विवेक-ज्योति

वर्ष ४१ अंक ६ जून २००३ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
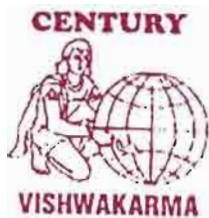
श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २००३

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४१
अंक ६

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-
विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)
दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(बाईसवीं तालिका)

८४०. श्री अशोक के. वर्मा, बालाजी पेठ, जलगाँव (महा.)
८४१. श्री राजवीर, सेक्टर-१३, हिसार (हरियाणा)
८४२. विवेकानन्द पुस्तकालय, पिलखुआ, गाजियाबाद (उ.प्र.)
८४३. श्रीमती प्रमीला सालू, थियेटर रोड, कोलकाता (प. बं.)
८४४. श्रीसारदा मठ, डी.५३/१८ लक्सा, वाराणसी (उ.प्र.)
८४५. श्री एस. आर. विश्वास, सुन्दर नगर, रायपुर (छ.ग.)
८४६. श्री गोविन्द ऊँटवाले, वायन, निउ जर्सी, (अमेरिका)
८४७. श्री सुमन सौरभ, निगही कॉलोनी, सिध्दि (म.प्र.)
८४८. स्वामी सुदर्शनानन्द, रामकृष्ण मिशन, कानपुर (उ.प्र.)
८४९. श्री श्यामल सुगन्ध, ताल कटरा, जयपुर (राजस्थान)
८५०. श्री ओ. पी. पालीवाल, प्रतापनगर, कोटा (राजस्थान)
८५१. श्रीमती जयलक्ष्मी ठाकुर, देवन्द्र नगर, रायपुर (छ.ग.)
८५२. श्रीमती मुक्तेश्वरी बघेल, पदुमनगर, भिलाई (छ.ग.)
८५३. श्रीमती शालिनी अग्रवाल, पुरानी बस्ती, रायपुर (छ.ग.)
८५४. मायावती हास्पीटल, मायावती, चम्पावत (उत्तरांचल)
८५५. श्री के. के. पाण्डेय, अमरकंटक, शहडोल (म. प्र.)
८५६. रामकृष्ण विवेकानन्द केन्द्र, बड़ोदरा (गुज.)
८५७. श्रीमती प्रेमा मोहन गोलचा, कोयम्बटूर (तमिलनाडु)
८५८. श्री अशोक राव, विवेकानन्द नगर, छिंदवाड़ा (म. प्र.)
८५९. श्रीमती रंजना महावर, टैगोर नगर, रायपुर (छ.ग.)
८६०. श्रीमती उषा आर. बघेल, सोनकछ, देवास (म. प्र.)
८६१. डॉ. राधिका अनिल बांडे, लाड कालोनी, इन्दौर (म. प्र.)
८६२. आयु. शैली, पिथौरागढ़ (उत्तरांचल)
८६३. श्री भारती छाबड़ा, अवन्ती विहार, रायपुर (छ.ग.)
८६४. श्री राज रमण के. राही, जनकपुरी, रायपुर (छ.ग.)
८६५. श्री राजेश इ. तिवारी, भाण्डुप, मुम्बई (महा.)
८६६. श्री नवल कुमार सराफ, मलकापुर, बुलढ़ाना (महाराष्ट्र)
८६७. श्री सुदर्शन रा. नातेवार, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८६८. श्री विनीत सम्पत राठी, सुराज एपार्टमेन्ट, नागपुर (महा.)
८६९. श्री गौरी सुनील कुलकर्णी, औरंगाबाद, (महाराष्ट्र)
८७०. श्री शिवाजी बापूराव शिशोदे, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८७१. श्री पांडुरंग के. सालुंके, दशमेश नगर, औरंगाबाद (महा.)
८७२. श्री एल. आर. कापाडने, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८७३. श्री मुरलीधर एन. सालुंके, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८७४. डॉ. नारके हिम्मत राव, श्रीकृष्ण नगर, औरंगाबाद (महा.)
८७५ श्री आर. एस. बानगुजार, विष्णु नगर, औरंगाबाद (महा.)
८७६. श्री बोराडे जी. जी., टाखारे नगर, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८७७. श्री दयानन्द स्वामी, समर्थ नगर, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८७८. श्री दिलीप ए. भालेकर, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८७९. श्री चन्द्रशेखर देवराव देशमुख, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख जरूर करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित सशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – ८
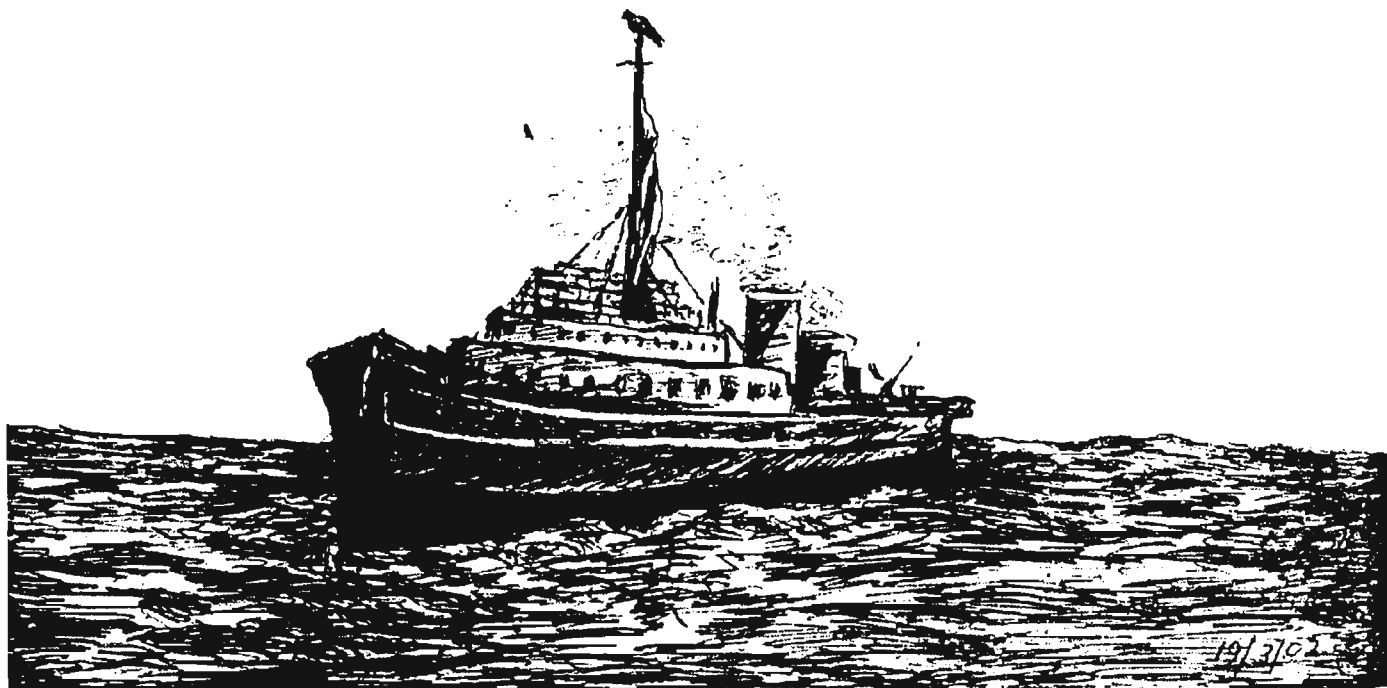
रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

जितने दिन संसार में भोग करने की इच्छा रहती है, उतने दिनों तक मनुष्य कर्मों का त्याग नहीं कर सकता। जब तक भोग की आशा है, तब तक कर्म हैं।

एक पक्षी जहाज के मस्तूल पर अन्यमनस्क बैठा था। जहाज गंगागर्भ में था। धीरे धीरे महासमुद्र में आ गया, तब पक्षी को होश आया। उसने चारों ओर देखा, कहीं भी किनारा दिखलायी नहीं पड़ता था। तब किनारे की खोज करने के लिए वह उत्तर की ओर उड़ा। बहुत दूर जाकर थक गया। फिर भी किनारा उसे नहीं मिला। तब क्या करे, लौटकर फिर मस्तूल पर आकर बैठा। कुछ देर के बाद, वह पक्षी फिर उड़ा, इस बार पूर्व की ओर गया। उस तरफ भी उसे कहीं छोर न मिला। चारों ओर समुद्र ही समुद्र था। तब बहुत ही थककर फिर जहाज के मस्तूल पर आ बैठा। फिर कुछ विश्राम करके दक्षिण की ओर गया, पश्चिम की ओर गया। पर उसने देखा कि कहीं ओर-छोर ही नहीं है। तब लौटकर वह फिर उसी मस्तूल पर बैठ गया। इसके बाद फिर नहीं उड़ा। निश्चेष्ट होकर बैठा रहा। तब मन में किसी प्रकार की चंचलता या अशान्ति नहीं रही। निश्चिन्त हो गया, फिर कोई चेष्टा भी नहीं रही।

संसारी लोग भी सुख के लिए जब चारों ओर भटकते फिरते हैं, और नहीं पाते, तो अन्त में थक जाते हैं। जब कामिनी और कांचन पर आसक्त होकर केवल दुख-ही-दुख उनके हाथ लगता है, तभी उनमें वैराग्य आता है – तभी त्याग का भाव पैदा होता है। बहुत से लोग ऐसे हैं, जो बिना भोग किये त्याग नहीं कर सकते। कुटीचक और बहूदक – ये दो होते हैं। साधकों में भी बहुतेरे ऐसे हैं, जो अनेक तीर्थों की यात्रा किया करते हैं। एक जगह पर स्थिर होकर नहीं बैठ सकते। बहुत-से तीर्थों का उदक अर्थात् पानी पीते हैं। जब घूमते हुए उनका क्षोभ मिट जाता है तब किसी एक जगह कुटी बनाकर स्थिर हो जाते हैं और निश्चिन्त तथा चेष्टाशून्य होकर परमात्मा का चिन्तन किया करते हैं।

जब तक ऐसा बोध होता है कि ईश्वर वहाँ हैं – वहाँ है, तब तक अज्ञान है; जब बोध हो जाता है कि ईश्वर यहाँ हैं – यहाँ हैं, तब समझो ज्ञान हो गया है।
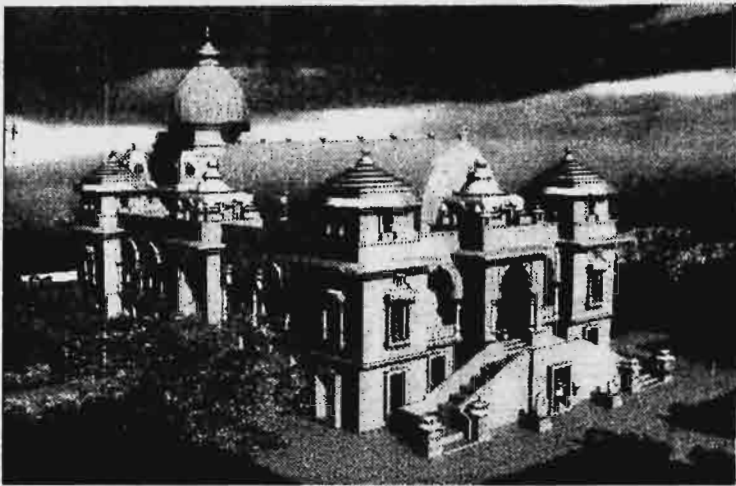
नम्र निवेदन

भगवान् श्रीरामकृष्ण का सार्वजनीन मन्दिर

प्रिय भक्तजन एवं सज्जनो !

स्वामी विवेकानन्द द्वारा संस्थापित रामकृष्ण संघ की एक शाखा, भारतवर्ष के मध्य-भाग में बसे हुए इस नागपुर में भी है। धन्तोली मुहल्ले में स्थित 'रामकृष्ण-मठ' नाम से विख्यात यह संस्था 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के आदर्शानुसार विगत ७४ वर्षों से अपनी विभिन्न गतिविधियों के साथ जनता की सेवा में निरत है।

भगवान् श्रीरामकृष्ण का वर्तमान सार्वजनीन मन्दिर तथा उससे संलग्न प्रार्थना-गृह अब जीर्ण-शीर्ण हो चुका है और उसकी दीवारों में दरारें पड़ चुकी है। अब यथाशीघ्र उसके स्थान पर एक नया मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त दिन-दिन भक्तों की संख्या में हो रही वृद्धि के फलस्वरूप भी कुछ समय से प्रार्थना-गृह में स्थान की कमी का बोध किया जा रहा है। अत: हमने पुराने देवालय-भवन के स्थान पर एक नये विशाल मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनवाने का संकल्प किया है। इस भवन का निर्माण निम्नलिखित विवरण के अनुसार होगा –

मन्दिर की लम्बाई एवं चौड़ाई	११७'×५८'
मन्दिर की उँचाई	६७'
गर्भ-मन्दिर *(पूजागृह)*	१८.५'×१८.५'
उपासना कक्ष *(५०० भक्तों के बैठने के लिये)*	६७'×४०'
दोनों ओर के बरामदे	६७'×५'
मन्दिर-तलघर एवं सभाभवन	९१.५'×५१'

इसके अलावा फीजियोथेरपी यूनिट के ऊपर की मंजिल पर भी निर्माण-कार्य होगा।

इन समस्त निर्माण-कार्यों पर कुल मिलाकर लगभग तीन करोड़ रुपयों का खर्च आयेगा, जिसके लिए यह मठ जन-साधारण से प्राप्त होनेवाले दान पर ही निर्भर है। हमारा आपसे आन्तरिक अनुरोध है कि समग्र मानवता के आध्यात्मिक तथा सर्वांगीण उन्नयन हेतु प्रस्तावित इस योजना के लिए आप उदारतापूर्वक अंशदान करें।

आप सभी पर भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्दजी का आशीर्वाद वर्षित हो – इस प्रार्थना तथा शुभकामनाओं सहित –

प्रभु की सेवा में,

स्वामी ब्रह्मस्थानन्द

(स्वामी ब्रह्मस्थानन्द)
अध्यक्ष
रामकृष्ण मठ, धंतोली, नागपुर

कृपया ध्यान दें –

दान की राशि डी.डी./चेक द्वारा **रामकृष्ण मठ, नागपुर** के नाम पर भेजें। दान की राशि आयकर की धारा ८०-जी के अ.र्गत आयकर से मुक्त होगी। विदेशी मुद्रा में दिया गया दान भी स्वीकार किया जाएगा।

रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

फोन : २५२३४२२, २५३२६९० • **फॅक्स :** २५३७०४२

वर्ष ४१ जून २००३ अंक ६

नीति-शतकम्

भग्नाशस्य करण्डपिण्डिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
लोकाः! पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम् ।।८५।।

अन्वयः – लोकाः ! पश्यत, करण्ड-पिण्डित-तनोः भग्नाशस्य क्षुधा म्लान-इन्द्रियस्य भोगिनः मुखे, आखुः नक्तं विवरं कृत्वा स्वयं निपतितः, असौ तत् पिशितेन तृप्तः तेन एव पथा सत्वरं यातः। हि दैवम् एव नृणां वृद्धौ क्षये कारणम् ।

भावार्थ – एक चूहा स्वयं ही पिटारी में छेद करके, उसमें दबे हुए शरीरवाले, निराश, भूख से शिथिल इन्द्रियोंवाले साँप के मुख में जा पड़ा। साँप भी उसके मांस से तृप्त होकर तत्काल उसी के बनाये हुए मार्ग से बाहर आ गया। हे लोगो, देखो, मनुष्य की वृद्धि तथा क्षय में भाग्य ही प्रमुख कारण है।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति ।।८६।।

अन्वयः – हि आलस्यं मनुष्याणां शरीरस्थः महान् रिपुः । उद्यमसमः बन्धुः न अस्ति, कुर्वाणः न अवसीदति ।

भावार्थ – मनुष्यों के शरीर में रहनेवाला उसका सबसे बड़ा शत्रु आलस्य ही है। उद्यम के समान उसका दूसरा कोई मित्र नहीं, जिसे करके उसे कभी दुख नहीं उठाना पड़ता।

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।
इति विमृशन्तः सन्तः सन्तप्यन्ते न दुःखेषु ।।८७।।

अन्वयः– तरुः छिन्नः अपि रोहति, चन्द्रः क्षीणः अपि पुनः उपचीयते, इति विमृशन्तः सन्तः दुःखेषु न सन्तप्यन्ते ।

भावार्थ – कटा हुआ वृक्ष भी फिर पनपता है, दुबला हुआ चन्द्रमा भी फिर बढ़ता है – ऐसा देखकर विचार करनेवाले सज्जन लोग दुख-विपत्तियों से अधीर नहीं होते।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(दरबारी कान्हरा-त्रिताल)

दुनिया में नहीं कुछ अपना, जो है सब झूठा सपना ।
सुख की तो है बस छाया, छलना में क्यूँ भरमाया,
अब और नहीं मन तुझको, मिथ्या आशा में तपना ।।

आया है निपट अकेला, बस देख जगत का मेला,
पर ध्यान रहे प्रतिक्षण ही, इसमें मत कहीं लिपटना ।।

सोया अज्ञान निशा में, चलता है भ्रान्त दिशा में,
क्या मिला तुझे जीवन में, बस रोना और कलपना ।।

अब चेत मूढ़ मन मेरे, दिन व्यर्थ जा रहे तेरे,
निस्सार जगत में आकर, तू रामकृष्ण ही जपना ।।

– २ –

(भैरव-एकताल)

ब्रह्मरूप महा उदधि,
व्यापत सच्चित्सुख जल,
देश-काल-उर्मिहीन,
रहित आदि-अन्त-अतल ।।

वारि मध्य प्रकट होत, चारु रक्तवर्ण कमल,
ता पर शोभत अनुपम, परमहंस रूप विमल ।।

बैठे चिर ध्यानमग्न, निर्विकल्प स्थिर निश्चल,
पंचभूत से अतीत, विगत राग-द्वेष सदल ।।

निर्धन के चिर सम्पद,
निर्बल के महती बल,
सुमिरन कर, चित प्रमुदित,
उनका निशिदिन प्रतिपल ।।

– *विदेह*

माया का स्वरूप

स्वामी विवेकानन्द

हिन्दू जब कहते हैं कि 'संसार माया है', तो साधारण मनुष्य को धारणा होती है कि 'संसार एक भ्रम है'। इस प्रकार की व्याख्या का कुछ आधार है; क्योंकि बौद्ध दार्शनिकों की एक श्रेणी के विद्वान् बाह्य जगत् के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे। पर वेदान्त में माया का जो अन्तिम विकसित रूप है, वह न तो विज्ञानवाद है, न यथार्थवाद और न किसी तरह का सिद्धान्त ही। वह तो तथ्यों का सहज वर्णन मात्र है – हम क्या हैं और अपने चारो ओर हम क्या देखते हैं।

इस देश, काल और निमित्त में हम एक विशेषता यह देखते है कि वे अन्य वस्तुओ से पृथक् होकर नहीं रह सकते। तुम शुद्ध 'देश' की कल्पना करो, जिसमे न कोई रंग है, न सीमा, और न चारों ओर की किसी भी वस्तु से कोई संसर्ग है। तो तुम देखोगे कि तुम इसकी कल्पना कर ही नहीं सकते। देश (स्थान) सम्बन्धी विचार करते ही तुमको दो सीमाओं के बीच अथवा तीन वस्तुओं के बीच स्थित देश की कल्पना करनी होगी। अत: हमने देखा कि देश का अस्तित्व अन्य किसी वस्तु पर निर्भर रहता है। काल के विषय में भी यही बात है। शुद्ध काल के सम्बन्ध में तुम कोई धारणा नहीं कर सकते। काल की धारणा करने के लिए तुमको एक पूर्ववर्ती और एक परवर्ती घटना लेनी पड़ेगी और अनुक्रम की धारणा के द्वारा उन दोनों को मिलाना होगा। जिस प्रकार देश बाहर की दो वस्तुओं पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार काल भी दो घटनाओं पर निर्भर रहता है। और 'निमित्त' अथवा 'कार्य-कारणवाद' की धारणा इस देश और काल पर निर्भर रहती है।

जैसे कोई भी व्यक्ति अपनी सत्ता को नहीं लाँघ सकता, वैसे ही देश और काल के नियम ने जो सीमा खड़ी कर दी हैं, उसका अतिक्रमण करने की क्षमता किसी में नहीं। देश-काल-निमित्त सम्बन्धी रहस्य को खोलने का प्रयत्न ही व्यर्थ है, क्योंकि इसकी चेष्टा करते ही इन तीनों की सत्ता स्वीकार करनी होगी। तब भला यह किस प्रकार सम्भव है? और ऐसा होने पर फिर जगत् के अस्तित्व के कथन का अर्थ भी क्या है? 'इस जगत् का अस्तित्व नहीं है', 'जगत् मिथ्या है' – इसका अर्थ क्या है? इसका यही अर्थ है कि उसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। मेरे, तुम्हारे और अन्य सबके मन के सम्बन्ध में इसका केवल सापेक्ष अस्तित्व है। हम पाँच इन्द्रियों द्वारा जगत् को जिस रूप में प्रत्यक्ष करते हैं, यदि हमारे एक इन्द्रिय और होती, तो हम इसमें और भी कुछ अधिक प्रत्यक्ष करते तथा और अधिक इन्द्रियसम्पन्न होने पर हम इसे और भी भिन्न रूप में देख पाते। अतएव इसकी यथार्थ सत्ता नहीं है – इसकी अपरिवर्तनीय, अचल, अनन्त सत्ता नहीं है। पर इसको अस्तित्वशून्य या असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह तो वर्तमान है और इसमे तथा इसी के माध्यम से हम कार्य करते हैं। यह सत् और असत् का मिश्रण है।

चाहे पदार्थ कहो, चाहे चेतन, चाहे आत्मा, चाहे किसी भी नाम से क्यो न पुकारो, बात एक ही है – हम यह नहीं कह सकते कि ये सब हैं, और यह भी नही कह सकते कि ये सब नहीं हैं। हम इन सबको एक भी नहीं कह सकते और अनेक भी नही। यह प्रकाश और अन्धकार का खेल – यह अविविक्त, अपृथक् और अविभाज्य मिश्रण, जिसमें सारी घटनाएँ कभी सत्य मालूम होती हैं, कभी मिथ्या – सदा से चल रहा है। इसके कारण कभी लगता है कि हम जाग्रत हैं, कभी लगता है कि सोये हुए हैं। बस, यही माया है, यही वस्तु-स्थिति है। इसी माया में हमारा जन्म हुआ है, इसी में हम जीवित हैं; इसी में सोच-विचार करते हैं, इसी में स्वप्न देखते हैं। इसी में हम दार्शनिक हैं, इसी में साधु हैं; यही नहीं, हम इस माया में ही कभी दानव और कभी देवता हो जाते हैं। विचार के रथ पर चढ़कर चाहे जितनी दूर जाओ, अपनी धारणा को ऊँचे से ऊँचा बनाओ, उसे अनन्त या जो इच्छा हो, नाम दो, पर तो भी यह सब माया के ही भीतर है। इसके विपरीत हो ही नही सकता; और मनुष्य का जो कुछ ज्ञान है, वह बस, इस माया का ही साधारणीकरण है – इस माया के दिखनेवाले स्वरूप को ही जानने की चेष्टा करना है। यह माया नाम-रूप का कार्य है। जिस किसी वस्तु का रूप है, जो भी कुछ तुम्हारे मन में किसी प्रकार के भाव की जागृति कर देती है, वह सब माया के ही अन्तर्गत है। जो कुछ देश-काल-निमित्त के नियम के अधीन है, वही माया के अन्तर्गत है।

इस मायावाद को समझना सभी युगों में बड़ा कठिन रहा है। मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ, मायावाद वास्तव में कोई वाद या मत विशेष नहीं है, वह देश, काल और निमित्त की समष्टि मात्र है – और इस देश, काल, निमित्त को आगे नाम-रूप में परिणत किया गया है। मान लो समुद्र में एक तरंग है। समुद्र से समुद्र की तरंगों का भेद केवल नाम और रूप में है, और

इस नाम और रूप की तरंग से पृथक् कोई सत्ता भी नहीं है, नाम और रूप दोनों तरंग के साथ ही हैं, तरंगें विलीन हो जा सकती हैं; और तरंग में जो नाम और रूप हैं, वे भी चाहे चिर काल के लिए विलीन हो जायँ, पर पानी पहले की तरह सम मात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार यह माया ही तुममें और हममें, पशुओं में और मनुष्यों में, देवताओ में और मनुष्यों में भेद-भाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है जिसने आत्मा को मानो लाखों प्राणियों में बाँध रखा है और उनकी परस्पर भिन्नता का बोध नाम और रूप से ही होता है। यदि उनका त्याग कर दिया जाय, नाम और रूप दूर कर दिये जायँ, तो वह सदा के लिए अन्तर्हित हो जायगी, तब तुम वास्तव में जो कुछ हो, वही रह जाओगे। यही माया है।

शंकराचार्य के अनुयायियों के अनुसार (सही अर्थ में ये ही अद्वैतवादी हैं) समस्त विश्व ही ब्रह्म का प्रातिभासिक रूप है। ब्रह्म विश्व का वास्तविक नहीं, केवल आभासी उपादान कारण है, इस सम्बन्ध में रज्जु और सर्प का प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है। रज्जु जैसे आभासित सर्प होती है, वास्तव में सर्प नहीं होती। उसका सर्प में परिवर्तन नहीं होता। उसी प्रकार सारा विश्व वास्तव में सत् है! सत् का परिवर्तन नहीं होता। हम इसमें जितने भी परिवर्तन पाते हैं, सभी आभास मात्र हैं। ये परिवर्तन देश, काल तथा निमित्त के कारण होते हैं, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की दृष्टि से नाम-रूप के कारण होते हैं। नाम और रूप के द्वारा ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद किया जाता है। अत: नाम और रूप ही उन वस्तुओं के भेद के कारण हैं। वास्तव में दोनों वस्तुएँ एक हैं। (अद्वैत) वेदान्तियों के अनुसार सत् और जगत् (phenomenon) परस्पर भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। रज्जु का सर्प जैसा दीखना भ्रमात्मक है। भ्रम के समाप्त होने पर सर्प का दिखना भी बन्द हो जाता है। अज्ञानवश व्यक्ति जगत् को देखता है, ब्रह्म को नहीं। जब उसे ब्रह्म का ज्ञान होता है, तब उसके लिए जगत् नहीं होता। अज्ञान, जिसे माया कहते हैं, जगत् का कारण है, क्योंकि इसी के कारण निरपेक्ष अपरिवर्तनशील सत् व्यक्त जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है। माया शून्य या असत् नहीं है। यह सत् भी नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष अपरिवर्तनशील तत्त्व ही एकमात्र सत् है। पारमार्थिक दृष्टि से तो माया को असत् कहा जाना चाहिए, किन्तु इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब तो इसके कारण जगत् का प्रतिभासित होना भी सम्भव नहीं हो सकता। अत: यह न तो सत् है, न असत् है। वेदान्त में इसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

एक बार नारद ने श्रीकृष्ण से कहा, "प्रभो, माया कैसी है, मैं देखना चाहता हूँ।" एक दिन श्रीकृष्ण नारद को लेकर एक मरुस्थल की ओर चले। बहुत दूर जाने के बाद श्रीकृष्ण नारद से बोले, "नारद, मुझे बड़ी प्यास लगी है। क्या कहीं से थोड़ा-सा पानी ला सकते हो?" नारद बोले, "प्रभो, ठहरिए, मै अभी जल लाता हूँ।" यह कहकर नारद चले गये। कुछ दूर पर एक गाँव था, नारद वहीं जल की खोज में गये। एक मकान में जाकर उन्होंने दरवाजा खटखटाया। द्वार खुला और एक परम सुन्दरी कन्या उनके सम्मुख आ खड़ी हुई। उसे देखते ही नारद सब कुछ भूल गये। भगवान मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, वे प्यासे होंगे, हो सकता है, प्यास से उनके प्राण भी निकल जायँ – ये सारी बातें वे भूल गये। सब कुछ भूलकर नारद उस कन्या के साथ बातचीत करते रहे। उस दिन वे अपने प्रभु के पास लौटे ही नहीं। दूसरे दिन वे फिर उस लड़की के घर आ पहुँचे और उससे बातचीत करने लगे।

धीरे धीरे बातचीत ने प्रणय का रूप धारण कर लिया। तब नारद ने उस कन्या के पिता के पास जाकर उस कन्या के साथ विवाह करने की अनुमति माँगी। विवाह हो गया। नव दम्पति उसी गाँव में रहने लगे। धीरे धीरे उनकी सन्तानें भी हुई। इस प्रकार बारह वर्ष बीत गये। इस बीच नारद के ससुर मर गये और वे उनकी सम्पति के उत्तराधिकारी हो गये। पुत्र-कलत्र, भूमि, पशु, सम्पत्ति, गृह आदि को लेकर नारद बड़े सुख-चैन से दिन बिताने लगे। कम-से-कम उन्हें तो यही लगने लगा कि वे बड़े सुखी हैं।

इतने में उस देश में बाढ़ आयी। रात के समय नदी दोनों कगारों को तोड़कर बहने लगी और सारा गाँव डूब गया। मकान गिरने लगे: मनुष्य और पशु बहकर डूबने लगे, नदी की धार में सब कुछ बहने लगा। नारद को भी भागना पड़ा। एक हाथ से उन्होंने स्त्री को पकड़ा, दूसरे हाथ से दो बच्चो को, और एक बालक को कन्धे पर बिठाकर वे उस भयंकर बाढ़ से बचने का प्रयत्न करने लगे। कुछ ही दूर जाने के बाद उन्हे लहरो का वेग अत्यन्त तीव्र प्रतीत होने लगा। कन्धे पर बैठे हुए शिशु की नारद किसी प्रकार रक्षा न कर सके; वह गिरकर तरंगों में बह गया। उसकी रक्षा करने के प्रयास मे एक और बालक, जिसका हाथ वे पकड़े हुए थे, गिरकर डूब गया। निराशा और दु:ख से नारद आर्तनाद करने लगे। अपनी पत्नी को वे अपने शरीर की सारी शक्ति लगाकर पकड़े हुए थे, अन्त में तरंगों के वेग से पत्नी भी उनके हाथ से छूट गयी और वे स्वयं तट पर जा गिरे एवं मिट्टी में लोटपोट हो बड़े कातर स्वर से विलाप करने लगे। इसी समय मानो किसी ने उनकी पीठ पर कोमल हाथ रखा और कहा, "बच्चे जल कहाँ है? तुम जल लेने गये थे न, मै तुम्हारी प्रतीक्षा मे खड़ा हूँ। तुम्हें गये आधा घण्टा बीत चुका।" "आधा घण्टा।" नारद चिल्ला पड़े। उनके मन मे तो बारह वर्ष बीत चुके थे, और आधे घण्टे के भीतर ही ये सब दृश्य उनके मन मे से होकर निकल गये! और यही माया है!

मनुष्य का ईश्वरत्व

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मेरे एक परिचित हैं। धर्मप्रेमी हैं, ईश्वर-भक्त हैं, सत्संग में जाते हैं। उस दिन घबड़ाये हुए से मेरे पास आये। कहने लगे - "गजब हो गया ! मनुष्य तो ईश्वर हो गया।" मैने पूछा - "क्या बात है?" बोल उठे - "अरे भाई, सृष्टि पैदा करने का काम ईश्वर का है, पर देखो आज मनुष्य विज्ञान के सहारे नयी सृष्टि रच रहा है - नये उपग्रह बनाकर अन्तरिक्ष में छोड़ रहा है। चन्द्रमा पर तो वह चला ही गया, अब मगल में जाने की तैयारी कर रहा है। 'टेस्ट-ट्यूब बेबी' का प्रयोग भी एक अंश में सफल हो गया। कल अब इस प्रयोग के सफल होने में क्या देरी है कि माता के गर्भ का सहारा न लेते हुए शिशु का जन्म प्रयोगशाला में हो जायेगा।" मैंने फिर से पूछा - "तो इससे क्या हुआ? आप इतने उद्विग्न क्यों हैं?" वे बोले - "क्यों, तब ईश्वर का स्थान कहाँ रहेगा? अगर मनुष्य ही ईश्वर की ताकत पाकर ईश्वर का सारा काम करने लगे, तो ईश्वर की क्या आवश्यकता रहेगी? तब तो धर्म के अभाव में अनैतिकता का बोलबाला हो जायेगा।" मैने कहा - "आज क्या अनैतिकता का बोलबाला नहीं है? जो लोग अपने को ईश्वरभक्त और धार्मिक प्रदर्शित करते हैं, वे क्या अनैतिक कार्यों में लिप्त नहीं हैं? केवल विज्ञान की उन्नति से ही अनैतिकता बढ़ जायेगी?"

इस प्रकार का विचार रखने में मेरे वे परिचित व्यक्ति अकेले नहीं हैं, बहुत-से लोग ऐसा ही सोचते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म को विज्ञान से खतरा दिखायी देता है। पर सही बात यह है कि धर्म को विज्ञान से नहीं, अनैतिकता से खतरा है। जो धर्मध्वजी हैं, धर्म का झण्डा तो फहराते हैं पर अधर्म का आचरण करते हैं, ऐसे लोगों से धर्म और ईश्वर को खतरा है। यदि विज्ञान मनुष्य में निहित असीम शक्ति को प्रकट कर रहा है, तो वह वेदान्त के इस सिद्धान्त की ही तो पुष्टि कर रहा है कि जीव शिव है, हर आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य ईश्वर के ही समान सब कुछ करने में समर्थ है, उसमें अनन्त शक्ति है, पर अज्ञान के कारण वह अपने ईश्वरत्व का बोध नहीं कर पाता।

मनुष्य दो धरातल पर कार्य करता है - एक है शरीर का और दूसरा मन का। यदि वह अज्ञान के बन्धनों को काट सके, तो वह दोनों धरातलों पर असीम शक्ति सम्पन्न हो जायेगा। शरीर भौतिक धरातल है और इसी पर विज्ञान की अलौकिक शक्तियाँ प्रकट हुई हैं। मनुष्य यह जो नयी सृष्टि रच रहा है, उपग्रह बना रहा है, यह उसी सत्य की पुष्टि करतां है कि मनुष्य में अनन्त शक्ति है। यह जैसे बाहरी जगत् के सन्दर्भ में सत्य है, वैसे ही भीतरी जगत् के सन्दर्भ में भी। यदि किसी दिन गर्भ के बाहर प्रयोगशाला में स्वस्थ शिशु का जन्म हो जाय, तो उससे ईश्वर को कोई आँच न आएगी, बल्कि मनुष्य का ईश्वरत्व और सिद्ध हो जायगा।

गड़बड़ी इसलिए उत्पन्न होती है कि हम ईश्वर को व्यक्ति विशेष समझते हैं और कल्पना करते हैं कि वह कहीं विराजित होगा और वहाँ से विश्व का काम-काज चला रहा होगा। ईश्वर वास्तव में ऐसा नहीं है। वह तो विश्व में सर्वत्र व्याप्त सर्वानुस्यूत नियम है जिसे बुद्ध ने 'धम्म' कहकर पुकारा। आइस्टीन की भाषा में कहें तो वह Supreme intelligence यानी 'महत् बुद्धि' है। जैसे धर्म इस 'महत् बुद्धि' अथवा 'सर्वव्यापी नियम' की खोज है, उसी प्रकार विज्ञान भी इसी की खोज है। विज्ञान, ज्ञान की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति को कहते हैं। जब हम इन्द्रियग्राह्य जगत् को छान-बीन का विषय बनाकर उस सर्वानुस्यूत नियम को पकड़ने जाते हैं, तो वह 'विज्ञान की प्रणाली' कहलाता है। और जब मन की खोज का विषय बनाकर उस ओर बढ़ते हैं, तो वह 'धर्म की प्रणाली' के नाम से जाना जाता है। अज्ञान की परतें यदि हट जाएँ तो मनुष्य का छिपा हुआ ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है।

मनुष्य अनैतिक इसलिए हो जाता है कि वह अपने को मात्र देह में आबद्ध एक प्राणी मानता है। इसीलिए वह स्वार्थ-केन्द्रित हो जाता है। पर यदि उसमें अपने ईश्वरत्व का बोध जागे, तो वह स्वार्थ की सकीर्ण सीमा से ऊपर उठेगा और अधिक व्यापक दृष्टि का अधिकारी बनेगा। धीरे धीरे वह अपने में निहित सत्य को दूसरों में भी देखने में समर्थ होगा। इसी को मनुष्य के ईश्वरत्व का जागरण कहते हैं। ❑

भीतर भी तो देखें

स्वामी सत्यरूपानन्द

किसी भी प्रकार की प्रगति या उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि हम यह ठीक ठीक जान लें कि हम कहाँ खड़े हैं? हमारी स्थिति क्या है? हम कहाँ अवस्थित हैं?

इन तथ्यों के ज्ञान के बिना किसी भी प्रकार की प्रगति या उन्नति सम्भव नहीं है। अपने सम्बन्ध में इन तथ्यों के ज्ञान के बिना हमारा जीवन मेलों में गोल घुमने वाले उन झूलों के समान हो जाता है जो दिन पर दिन घंटों घुमता रहता है किन्तु पहुँचता कहीं नहीं, वहीं का वहीं रह जाता है।

अपनी स्थिति और अवस्थिति को जानने का एकमात्र उपाय है आत्मनिरीक्षण अपने आप को देखना। जन्म से ही हम बाहर की ओर देखने के अभ्यस्त हैं। इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सारा ज्ञान विज्ञान हमें बाहर की ओर से ही प्राप्त होता है। बाहर से प्राप्त होने वाला यह ज्ञान हमें अपने से बाहर के संसार का ज्ञान तो देता है, किन्तु हमारे भीतर के ससार के सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं बता पाता। इसलिये बाहर के संसार के सन्दर्भ में बहुत कुछ जानकर भी हम अपने विषय में एकदम अनभिज्ञ, अज्ञानी रह जाते हैं। और हम सभी जानते हैं कि हमारे सभी दुःखों का कारण हमारा अपने विषय में अज्ञान ही है।

जीवन की उन्नति के लिये स्वय के विषय में इस अज्ञान को दूर करना जरूरी है। कैसे दूर होगा यह अज्ञान? – आत्म-निरीक्षण से! आत्मनिरीक्षण कहाँ से और कैसे शुरू करें? इसे आज अभी इसी क्षण से प्रारम्भ किया जा सकता है। – कैसे प्रारम्भ करें? अवकाश के क्षणों में थोड़ा समय निकालिये। अपने कमरे में, घर के किसी कोने में या बाहर के किसी एकान्त स्थान में आराम से शान्त और शिथिल होकर बैठ जाइये। आँखें बन्द कर लीजिये तथा अपने मन में उठने वाले विचारों को वैसे ही देखते रहिये, जैसे कि टी.वी. या सिनेमा देखते हैं। केवल द्रष्टा होकर। थोड़ी अपनी कल्पना शक्ति का उपयोग कीजिये। उसकी सहायता लीजिये। अच्छे-बुरे जो विचार आएँ उन्हें निरपेक्ष भाव से देखते रहिये। उन विचारों पर विचार कीजिये। केवल द्रष्टा होकर निरपेक्ष द्रष्टा होकर देखते रहिये। उन पर नियत्रण करने का प्रयत्न कीजिये।

आप पायेंगे कि पहले पहले विचारों का तूफान आपके मन में उठ रहा है। ऐसे ऐसे विचार आयेंगे जिनकी आपने कभी कल्पना भी न की होगी। आप आश्चर्य में पड़ जायेंगे कि आपके मन में ऐसे भी विचार थे। इससे घबराइये मत और अपना अभ्यास चालू रखिये निष्ठा के साथ चालू रखिये। अभ्यास चलता रहेगा तो विचारों का तूफान धीरे धीरे कम होने लगेगा। मन तनाव मुक्त होने लगेगा, हल्का महसूस करेंगे।

ऐसी अवस्था आने पर आप आत्म निरीक्षण के लिये उचित अधिकारी हो जाते हैं। अब आप अपने मन में उठनेवाले विचारों को निष्पक्ष होकर देख सकेंगे। अपनी इच्छाओं को पहचान सकेंगे। अब वह समय आ गया है कि आपको अपने विचारों पर विचार करना है कि कौन से उचित तथा उपयोगी हैं तथा कौन से अनुचित और व्यर्थ।

उसी प्रकार आपको अपनी इच्छाओं की भी जाँच करनी होगी। उन्हें भी परखना होगा। कौन सी इच्छा है जो जीवन की उन्नति और विकास में सहायक है। तथा कौन सी इच्छा असत् है जो जीवन विकास में बाधक है। इस प्रकार का विवेचन ही विवेक कहा जाता है। विवेक के द्वारा ही हम श्रेष्ठ विचार और सद् इच्छाओं का चयन करने में समर्थ होते हैं। वही विचार श्रेष्ठ तथा वही इच्छा सद् होती है जो नैतिक दृष्टि से शुद्ध तथा आध्यात्मिक दृष्टि से वरेण्य होती है। अपने विचारों और इच्छाओं सम्बन्धी यह ज्ञान आत्मनिरीक्षण से भिन्न और किसी उपाय द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। आत्मनिरीक्षण ही हमें अपने स्वभाव का ज्ञान देता है। अपने स्वभाव को जानकर ही हम जीवन में सफल हो सकते हैं। अपने स्वभाव को जानना अपने गुण दोषों को जानना है। आत्मसुधार और आत्म विकास के लिये अपने गुण दोषों को जानना नितान्त आवश्यक है। इनको जानकर ही हम अपने स्वभाव से दोषों को दूरकर गुणों का अर्जन कर सकते हैं। अपनी कमियों और दुर्बलताओं को जानकर ही हम इनको दूर करने में समर्थ होकर उसकी क्षतिपूर्ति कर आत्मसुधार के द्वारा अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सकते हैं। और यह बात हम सभी लोग जानते हैं व्यक्तित्व के समुचित विकास के बिना कोई भी व्यक्ति जीवन में सफल नहीं हो सकता। जीवन की सफलता का अर्थ ही है अपने व्यक्तित्व का समुचित एवं सर्वांगीण विकास।

आत्मनिरीक्षण और आत्मसुधार सफल एवं शान्तिपूर्ण जीवन की कुंजी है। आत्मनिरीक्षण चरित्र गठन का तंत्र है। अतः किसी भी अन्य तकनीकी ज्ञान के समान आत्मनिरीक्षण को भी धैर्य एवं परिश्रमपूर्वक सीखना पड़ता है। अध्यवसाय-पूर्वक दीर्घकाल तक इसका अभ्यास करना पड़ता है। किन्तु परिश्रम और अध्यवसाय के द्वारा एक बार सध जाने पर यह हमारे चरित्र का अंग बन जाता है तथा सदैव सजग प्रहरी के समान सावधानीपूर्वक दोषों और दुर्गुणों से हमारी रक्षा कर जीवन लक्ष्य की ओर हमें अग्रसर करता रहता है।

अतः जितना शीघ्र हो सके हमें जीवन में आत्मनिरीक्षण का अभ्यास बना लेना चाहिये। ❖

अंगद-चरित (८/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके आठवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

सीताजी मूर्तिमती नीति हैं और श्रीराम मूर्तिमान धर्म। गोस्वामी जी कहते हैं कि जब किसी राजा को धर्म और नीति दोनों का संयुक्त बल प्राप्त हो जाता है, तो उसका पद अचल हो जाता है। सीताजी को गोस्वामी जी ने शान्ति के, भक्ति के और दोहावली में नीति के रूप में भी प्रस्तुत किया है।

अब यहाँ दो पात्र हैं – सूर्पणखा और श्री सीताजी। सूर्पणखा लंका की नीति का प्रतीक है और सीताजी अयोध्या की। सूर्पणखा का वर्णन इसी भाव से हुआ है। सूर्पणखा लंका का प्रतिनिधित्व करती है। वह – दोनों राजकुमारों को – श्रीराम और लक्ष्मण को देखकर व्याकुल हो गई –

देखि बिकल भइ जुगल कुमारा। ३/१७/४

और पहला काम क्या किया? **रुचिर रूप धरि** – स्वयं को खूब सुन्दर बनाया। यही तो राजनीति है कि कुछ ऐसी कला कीजिए कि भीतर कुछ हो और बाहर कुछ और दिखाई दे, जैसा कि सूर्पणखा करती है। और इतना ही नहीं, बोली –

बोली बचन बहुत मुसुकाई ।। ३/१७/७

वह नकली मुस्कुराहट, नकली आचरण के द्वारा श्रीराम को अपनी ओर आकृष्ट करके वासना की दिशा में प्रेरित करने की चेष्टा करती है और श्रीराम से विवाह का प्रस्ताव रखती है। यहाँ पर भगवान राम के व्यवहार में भिन्नता दिखाई पड़ती है। उन्होंने सूर्पणखा के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

इस सन्दर्भ में मुझे एक ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति की याद आती है, जिन्होंने अपने एक लेख में लिख दिया कि श्रीराम को राजनीति का ज्ञान नहीं था, क्योंकि यदि वे एक अच्छे राजनीतिज्ञ होते तो सूर्पणखा से विवाह कर लेते। इसमें दो राष्ट्रों का भारत और लंका के बीच एक महान सम्बन्ध स्थापित हो जाता। यह कैसी विचित्र बात है! मुझे यह सोचकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस भलेमानुष को यह पता नहीं कि जिसके साथ सूर्पणखा का विवाह हुआ, उसका सिर तो स्वयं रावण ने ही काट लिया था। विवाह हो जाने से दो राष्ट्रों की बात तो दूर, रावण ने तो सूर्पणखा के पति के ही सिर को काटने में संकोच नहीं किया। अब ऐसे लोग, जो श्रीराम में राजनीति न देखकर रावण में ही राजनीति देखते हैं, उन पर मैं अधिक आश्चर्य नहीं करता। वस्तुतः दृष्टि ही इतनी बदली हुई है।

श्रीराम की नीति तो सीताजी हैं। इसलिए सूर्पणखा जब विवाह का प्रस्ताव करती है, तब भगवान राघवेन्द्र – **सीतहि चितइ** – मुस्कुराकर सीताजी की ओर देखते हैं। लंका की राजनीति का उत्तर भगवान श्रीराघवेन्द्र के सामने है। अयोध्या की, मिथिला की नीतिरूपा सीताजी भगवान के सामने हैं, श्रीराम की दृष्टि उन्हीं में निबद्ध है। भगवान राम ने सूर्पणखा को लक्ष्मण के पास भेजा, लक्ष्मणजी ने भगवान राम के पास भेजा। दोनों ओर से उसे उपेक्षा मिल रही है। कहीं से भी उसे सम्मान और स्वीकृति नहीं मिल रही है। तब सूर्पणखा – **रूप भयंकर प्रगटत भई** – अपने भयानक रूप में प्रगट हो गई। इसका अभिप्राय यह है कि राजनीति का यह रूप पहले तो अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए कृत्रिम उपायों का आश्रय लेता है, और उससे सफलता न मिलने पर बाद में उसे अत्यन्त बीभत्स और भयानक बन जाने में भी संकोच नहीं होता। सूर्पणखा अपना भयानक रूप प्रगट करती है और सीताजी को खा जाने के लिए आगे बढ़ती है। नीतिशतक में भर्तृहरिजी कहते हैं – राजनीति वेश्या की भाँति अनेक रूपोंवाली होती है।

वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा। (४७)

लंका की राजनीति ऐसी ही है। सूर्पणखा की ऐसी ही वृत्ति है। राजकुमारों को देखकर मुग्ध हो जाना, दोनों में से कोई भी मुग्ध हो जाय, इसके लिए प्रयत्न करना और अन्त में अत्यन्त उग्र व बीभत्स रूप में प्रगट हो जाना। सीताजी बड़ी भयभीत दिखने लगीं, स्तम्भित हो गईं। श्रीराम के समक्ष उसकी विकृति प्रगट हो जाने पर वे लक्ष्मण जी को संकेत करते हैं –

सीतहि सभय देखि रघुराई।
कहहि अनुज सन सयन बुझाई ।। ३/१७/२०

लक्ष्मण जी उनका संकेत समझकर उसे तत्काल नाक-कान से रहित कर देते हैं –

लछिमन अति लाघवँ सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि ।।३/१७

यह सूर्पणखा पर नहीं, वरन् रावण की राजनीति पर प्रहार था, रावण की राजनीति का विरूपीकरण था। भगवान राम का मुख्य उद्देश्य था रावण को चुनौती देना। श्रीराम मानो लक्ष्मण के माध्यम से रावण को चुनौती देते हैं। भगवान की राजनीति

का जो श्रीगणेश हुआ, वह यहीं से हुआ। भगवान श्रीराघवेन्द्र सूर्पणखा के प्रति दण्डनीति का प्रयोग करते हैं।

यहाँ पर सूर्पणखा के सन्दर्भ में गोस्वामी जी का संकेत बड़ा समझने योग्य है। जैसे शरीर के सभी अंगों की रक्षा करने, उन्हें बचाने की आप चेष्टा करें, यह तो ठीक है, लेकिन शरीर में कुछ अंग ऐसे भी हैं, जो हैं तो शरीर के ही अंग, पर जिन्हें हमें काटना पड़ता है। जैसे कि नाखून। होता तो वह भी है, अंगुली में ही, पर हम उसे कटवाते रहते हैं और यह ध्यान रखते हैं कि कहीं अंगुली न कट जाय। बुद्धिमानी इसी में है। **अंगुली बची रहे, पर नाखून जरूर कटते रहें।** सूर्पणखा के इस नाम का अर्थ ही यह है कि जिसके नाखून सूप के समान बड़े बड़े हों। तात्पर्य यह कि सूर्पणखा ने कभी नाखून कटवाये ही नहीं। इसे स्थूल अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि मन की वासनाएँ नाखूनों की तरह हैं। और अंगुली बची रहे और उसमें नाखून भी अपनी सीमा में रहे, उन्हें पूरा नहीं काटना है। अंगुली में उसकी एक सीमा है, जहाँ तक नाखून को बचाए रखना पड़ता है, वहाँ तक वह उपयोगी भी है, पर उस सीमा से आगे बढ़नेवाला नाखून तो बड़ा विषैला और दुखदाई है।

इसका तात्पर्य यह है कि जीवन में, व्यवहार में, जितनी वासना की आवश्यकता है, उस सीमा तक उसे स्वीकार कर लेना बिल्कुल ठीक है, व्यावहारिक है, पर वासना जब व्यावहारिक मर्यादा की रेखा पार कर जाय, तब उस वासना के नाखून को काटना ही उचित है। इसका अर्थ है कि मन में जब वासना का अतिरेक हो जाय, तब उसे जरूर काटिए। तब यह संकोच बिल्कुल न करें कि यह भी तो मेरी उँगली का ही एक अंश है। लेकिन रावण और सूर्पणखा वासना को काटने में विश्वास नहीं करते। वे वासना को मनमानी छूट देते हैं। सुर्पणखा के नाक-कान काटने के पीछे अभिप्राय क्या है? यही कि जो नाखून नहीं कटाएगा, उसके नाक कान कट जाएँगे। हाँ, जो लोग वासना को नहीं काटते, ऐसे न जाने कितने ही लोगों के नाक-कान रोज कटते रहते हैं, वासना के कारण। नाक-कान केवल त्रेतायुग में हो नहीं कटे, केवल सूर्पणखा के नहीं कटे, आज भी तो, जो कोई भी वासनाओं को मनमानी छूट देता है, उसका मान-सम्मान क्या बचता है? यही तो नाक-कान का कटना है। **निन्दा अर्थात् कान का कट जाना।** निन्दा होने लगी तो कान कट गया। **मुँह दिखाने योग्य नहीं रह गए तो तो नाक कट गई।** वासना के अनियंत्रित तथा उच्छृंखल प्रयोग के लिए भगवान लक्ष्मण जी को आदेश देते हैं कि इसको मारना मत, केवल इसके नाक-कान काट देना। भगवान का अभिप्राय यह है कि वासना जब अनियंत्रित रूप में आए, तो उसके लिए दण्डनीति का प्रयोग करना चाहिए। यही भगवान राघवेन्द्र की राजनीति है।

और रावण की? उसका तो बड़ा विचित्र जीवन-दर्शन है, भगवान राम से बिल्कुल उल्टा। सुर्पणखा ने पहले तो भगवान राम से लड़ने के लिए खर-दूषण को प्रेरित किया, परन्तु जब वे मारे गए तो वह रावण के पास पहुँची। अच्छे-भले लोगों ने प्रेम से, आदर से, सम्मानपूर्वक रावण को समझाया, लेकिन रावण ने किसी को लात मारा, किसी को सभा से निकाला, पर उसे सुर्पणखा ने जितना फटकारा, उतना किसी ने भी नहीं फटकारा। पर बड़ी विचित्र बात है कि रावण यदि किसी को महत्व देता है, तो वह है सुर्पणखा। वहाँ तो लगता है और कई लोग कहते हैं कि रावण कितना सहिष्णु था। तो वासना के प्रति सहिष्णुता तो वासनायुक्त व्यक्ति का स्वभाव ही है। सुर्पणखा रावण को फटकार रही है। और आक्षेप भी कैसा?

करसि पान सोवसि दिनु राती।
सुध नहिं तव सिर पर आराती ।। ३/२१/७

– "तू शराब पीकर रात-दिन सोता रहता है और मैं तेरी सुरक्षा के लिए इतनी सजग हूँ। अत: देख, मेरी कैसी दुर्दशा हुई है। मेरी यह दुर्दशा इसलिए हुई कि मैं चैतन्य हूँ। राजनीति का यह लक्षण है कि उसे सदा सावधान रहना चाहिए। तू भले ही सो गया, पर मैं थोड़े ही सोई थी। मैं गई थी और पता लगा रही थी कि कोई शत्रु लंका के लिए कठिन स्थिति उत्पन्न करने वाला तो नहीं है? वहाँ जाकर सचमुच मैंने देखा और उनको नियंत्रित करने की चेष्टा की। इसी के चलते बड़े भाई का संकेत पाकर छोटे भाई ने मेरे नाक-कान काट लिये।"

इस तरह से सूर्पणखा जब रावण को फटकारती है, तो रावण को लगता है कि सामनीति का यदि कोई सबसे उपयुक्त पात्र है, तो वह सूर्पणखा ही है। रावण सूर्पणखा को बड़े प्रेम से समझाने की चेष्टा करता है। हो गई न उल्टी बात! श्रीराम ने जहाँ पर सुर्पणखा को दण्ड का पात्र समझा, उसके लिए दण्ड का प्रयोग किया, वहाँ रावण उसे बड़े सम्मानपूर्वक समझा रहा है। **सज्जनों को चाहिए सामनीति और दुर्जनों को चाहिए दण्डनीति।** सज्जन विभीषण थे, उसको तो रावण ने लात से मारा और अनियंत्रित सुर्पणखा को बड़े सम्मानपूर्वक समझा रहा है; नहीं नहीं, तुम घबराओ नहीं, तुम्हारे सम्मान की रक्षा मैं करूँगा। इस तरह रावण राजनीति का दुरुपयोग करता है। नीति वही है पर उस नीति का प्रयोग हम किस उद्देश्य से कर रहे हैं। यदि सामनीति का प्रयोग बुरे लोगों के प्रति किया जाएगा, तो बुरे व्यक्ति को उससे प्रोत्साहन ही मिलेगा, उन्हें बुराई करने की प्रेरणा भी मिलेगी। इसी प्रकार सुर्पणखा की प्रेरणा के पीछे चलनेवाले खर-दूषण का विनाश हो गया, लंका का विनाश हो गया। इसका अभिप्राय यह है कि लंका की राजनीति के पीछे जो व्यक्ति चलेगा, अन्ततोगत्वा उसका विनाश ही होगा। रावण की जीवन में नीति यही है कि सुर्पणखा के लिए वह साम का प्रयोग कर रहा है और दाम का

प्रयोग किसके लिए कर रहा है? रावण जब सीताजी को लंका में ले आया तो उसने अपनी सभी रानियों से कहा कि तुम लोगो के पास जितने भी मूल्यवान वस्त्र-आभूषण हैं, वह सब पहन लो और मेरे साथ अशोक-वाटिका में चलो। उसके मन में क्या भावना थी? यही कि जब सीताजी लंका का ऐश्वर्य – इतने मूल्यवान रत्न-आभूषण और इतनी रानियाँ देखेंगी, तो मेरी ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सकेंगी –

तेहि अवसर रावनु तहँ आवा।
संग नारि बहु किए बनावा ।। ५/८/२

रावण श्री सीताजी को आकृष्ट करने की चेष्टा करता है और कहता है – यदि तुमने एक महीने के भीतर मेरा कहना न माना, तो मैं तलवार निकालकर तुम्हें मार डालूँगा –

मास दिवस महुँ कहा न माना।
तौ मैं मारबि काढ़ि कृपाना ।। ५/१०/९

रावण की यह चेष्टा दोनो दृष्टियों से व्यर्थ है। सीताजी महालक्ष्मी हैं, तो उनको लोभ दिखाना और वे महाशक्ति हैं, तो भय दिखाना, ये कैसी व्यर्थ की चेष्टाएँ हैं? पर रावण सीताजी के साथ दोनों ही तरह का व्यवहार करता है, प्रलोभन भी दिखाता है और भय भी। कहता है – मन्दोदरी आदि समस्त रानियों को मैं तुम्हारी सेविका बना दूँगा –

मन्दोदरी आदि सब रानी।
तव अनुचरी करऊँ पन मोरा। ५/९/५

इस प्रकार रावण सूर्पणखा के लिए सामनीति का, सीताजी के लिए दामनीति का और विभीषण के लिए दण्डनीति का प्रयोग करता है।

भगवान श्रीराम ने अंगद से पूछा कि इन मुकुटों ने आने में देर क्यों की? अंगद बोले – इन चारों ने सलाह कर लिया था कि जब हम चारों का दुरुपयोग होगा, तो हम साथ चलेंगे। रावण ने पहले साम का दुरुपयोग किया, फिर दाम का, फिर दण्ड का और अन्तत: बचा हुआ था भेद। उसके द्वारा उसने मुझमें और आपमें उत्पन्न करने की चेष्टा की, जीव को ईश्वर से अलग करने की चेष्टा की। तब इन चारों नीतियों ने निर्णय किया – बस, अब यहाँ से चल देना चाहिए, अत: महाराज ये चारों मुकुट नहीं, राजनीति के चार गुण हैं, जो रावण को छोड़कर आपके चरणों में आ गए हैं। इन्होंने समझ लिया कि – रावण धर्महीन और प्रभु के चरणों से विमुख हो गया है, अत: वे उसका परित्याग करके आपके पास चले आए हैं –

धर्महीन प्रभु पद बिमुख काल बिबस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आए सुनहु कोसलाधीस ।।६/३८

इस प्रकार अंगद ने उस सन्दर्भ में रावण को समर्पण का संकेत दिया। स्वयं अंगद में समर्पण की वृत्ति है। उनमें इतना पौरुष और पराक्रम है कि जमीन पर मुक्का मारने से रावण का सिहासन हिल गया, रावण मुँह के बल गिर पड़ा और अंगद ने उसके मुकुट छीन लिए, पर इतना होते हुए भी उनमें इतनी निराभिमानिता है कि वे इसे अपना पौरुष या पराक्रम नहीं मानते। इसमें उन्हें प्रभु का ही बल दिखाई देता है। उनके अन्त:करण में जरा भी आत्मश्लाघा नहीं है। यह बोध उन्हें कैसे हुआ? गोस्वामी जी कहते हैं – अंगद की चतुराई भरी बातें सुनकर उदार रामचन्द्र हँसने लगे –

परम चतुरता श्रवन सुनि
बिहँसे रामु उदार। ६/३८/ख

तो फिर चतुराई होनी चाहिए या नही? रामायण में दोनों तरह की बात मिलेगी। एक प्रसंग में तो लिखा गया – मन, वचन तथा कर्म से चतुराई छोड़कर भजन करने पर ही रघुनाथ जी की कृपा होगी –

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई।
भजत कृपा करिहहिं रघुराई ।। १/२००/६

अत: चतुराई का त्याग कर दो। पर कई प्रसंगों में और यहाँ अंगद के प्रसंग में है कि अंगद की चतुराई देख भगवान प्रसन्न हो गए। इसी प्रकार जब सुतीक्ष्ण जी से प्रभु की बातें हुईं और सुतीक्ष्ण जी भगवान से बड़ी अनोखी पद्धति से बोले, तो – मुनि की चतुराई देखकर कृपामूर्ति प्रभु ने उन्हें साथ ले लिया और दोनों भाई हँस पड़े –

देखि कृपानिधि मुनि चतुराई।
लिए संग बिहसे द्वौ भाई ।। ३/१२/४

तो रामायण में चतुराई का क्या अर्थ है? चतुराई का एक अर्थ तो वह है जो समाज में प्रचलित है। वह चतुराई यहाँ अभिष्ट नही है। उस चतुराई को तो छोड़ना पड़ेगा। गोस्वामी जी ने व्यंग्य किया – कलियुग में सबसे चतुर और सबसे सयाना कौन माना जाता है? वही व्यक्ति जो चतुराई से, छल-कपट से, दूसरों के धन को अधिक-से-अधिक हरण कर ले। हम कहते हैं कि वह बड़ा बुद्धिमान है, बड़ा चतुर है। और जो अपने जीवन में जितना दम्भ कर सके, प्रदर्शन कर सके, वही सबसे बड़ा धर्म का आचरण करनेवाला माना जाता है –

सोई सयान जो परधन हारी।
जो कर दम्भ सो बड़ आचारी ।। ७/९८/५

तो जिस चतुराई से, छल-कपट से, होशियारी से दूसरों का धन छिनकर कर, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने की चेष्टा की जाती है, वह चतुराई तो त्याज्य है। पर अंगद वाली चतुराई? वह तो बड़ी सार्थक है। बुद्धि की इससे बढ़कर सार्थकता क्या होगी ! वैसी ही सुतीक्ष्ण जी की चतुराई भी है। गोस्वामी जी ने कहा कि ये तो बड़े चतुर निकले। अंगद चतुर इसलिए हैं कि उनमें भगवान के चरणों के प्रति समर्पण है, उनमे कर्तृत्व की स्वीकृति नही है। उनमें 'मैंने किया' यह वृत्ति नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि विवेक का सच्चा फल तो तब है, जब व्यक्ति के जीवन में कर्तृत्व का अभाव आ जाय, कर्तृत्व-

अभिमान की वृत्ति मिट जाय और जो कुछ है उसको भगवान के चरणों में सपर्पित करने की वृत्ति आ जाय। चतुराई का, बुद्धि का इससे बढ़कर और कोई सदुपयोग नहीं है।

सुतीक्ष्ण जी चतुर क्यों हैं? भगवान ने उनसे कह दिया – मुनिजी, मैं बड़ा प्रसन्न हूँ, जो माँगना हो माँग लीजिए –

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही ।
जो बर मागहु देउँ सो तोही ।। ३/११/२३

तब मुनिजी क्या बोले? उनकी चतुराई शुरू हो गई। बोले – महाराज, मैंने तो अब तक कभी वरदान माँगा ही नहीं। मुझे पता नहीं कि क्या सच है, क्या झूठ। – तो क्या कुछ नहीं लोगे? बोले – महाराज, जब आप देने को इतने उत्सुक हैं, तो यही कहूँगा – आपको जो अच्छा लगे, वही दे दीजिए –

तुम्हहि नीक लागै रघुराई ।
सो मोहि देहु दास सुखदाई ।। ३/११/२४

प्रभु ने कहा – ठीक है, जब तुमने मुझ पर ही छोड़ दिया, तो मैं सब दिए देता हूँ – तुम प्रगाढ़ भक्ति, वैराग्य, विज्ञान और समस्त गुणों तथा ज्ञान के आगार बन जाओ –

अबिरल भगति बिरति बिग्याना ।
होहु सकल गुन ग्यान निधाना ।। ३/११/२५

वे तुरन्त बोले – महाराज, आपने जो दिया, वह तो मिल गया और अब आप मुझे वह दीजिए, जो मुझे प्रिय है –

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा ।
अब सो देहु मोहि जो भावा ।। ३/११/२६

प्रभु बोले – अभी तो आप कह रहे थे कि आपको माँगना नहीं आता, अब कैसे माँग रहे हैं? बोले – बात यह है कि पहले तो मैं बुद्धिहीन था, परन्तु अब तो आपने विज्ञान दे दिया है। अब बुद्धि आ गई है तो उसका सदुपयोग तो कर ही लेना चाहिए। इसलिए अब आपसे यह प्रार्थना है कि –

तदपि अनुज श्री सहित खरारी ।
बसतु मनसि मम कानन चारी ।। ३/११/१८

माँगा भी, तो एक साथ ही तीन वर माँग लिए। बोले – आप जो वनवासी प्रभु हैं, वह मेरे हृदय में निवास कीजिए। – ठीक है। फिर थोड़ी देर रुककर बोले – महाराज, जो अयोध्या के राजा राम हैं, वे मेरे हृदय को अपना घर बनाएँ। ... फिर रुक गए। – क्यों? उन्होंने कहा कि जो वनवासी प्रभु हैं वे मेरे हृदय में रहें। तो जो वनवासी प्रभु हैं, वे तो वन में रहेंगे, इसलिए मुनिजी का जो निमंत्रण था वह यह कि मेरा मन तो वन है और आप वनवासी हैं, अत: आइए, मेरे इस मन के वन में निवास कीजिए। पर बाद में डर गए कि मैंने वनवासी को वन में बुलाया है, तो जब ये वन से अयोध्या चले जाएँगे कि अब तो मैं अयोध्या का राजा हूँ, अब मैं वन में क्यों रहूँगा? तो तत्काल कह दिया – कोई बात नहीं, जब आप वन से राजमहल में जाएँगे, तो हम अपने हृदय को राजमहल बना लेंगे, तब हम आपको वन में नहीं रखेंगे।

जो कोसलपति राजिव नयना ।
करउ सो राम हृदय मम अयना ।। ३/११/२०

अयोध्या में भी तो भगवान राम ग्यारह या तेरह हजार वर्ष रहेंगे, उसके बाद मेरे हृदय-अयोध्या से निकलकर चले न जायँ। इसलिए थोड़ी देर रुककर वे फिर बोले – महाराज, अभी और बाकी है। – अब क्या बाकी है? बोले –

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम ।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम।। ३/११

बोले – जैसे चन्द्रमा आकाश में उदित रहता है, वैसे ही आप मेरे हृदय-आकाश में सदा रहिए। यह दूसरा प्रस्ताव, मानो ईश्वर सदा पास रहे, कभी दूर न हो, चाहे जो भी स्थिति हो, अपने अन्त:करण को उसी रूप में परिणत कर ईश्वर को सदा अपने हृदय में रखने की कामना। प्रभु ने दे दिया।

इसके बाद प्रभु ने पूछा – आपकी माँग पूरी हो गई? सब मिल गया न? – हॉ, महाराज, मुझे सब मिल गया। तब प्रभु ने कहा – अब मैं महर्षि अगस्त्य का दर्शन करने के लिए उनके पास जाऊँगा। तब सुतीक्ष्ण जी बोले – महाराज, मैं भी साथ चलूँ? – क्यों, आप क्यों जाना चाहते हैं? बोले – महाराज, मुझे तो गुरुजी के पास जाना ही था, अब संयोग से आप भी जा रहे हैं तो क्यों न आपके साथ ही चलूँ –

अब प्रभु संग जाऊँ गुरु पाहीं ।
तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं ।। ३/१२/३

गोस्वामी जी ने कहा – मुनि की चतुराई देखकर कृपामूर्ति प्रभु ने उन्हें साथ ले लिया और दोनों भाई हँस पड़े –

देखि कृपानिधि मुनि चतुराई ।
लिए संग बिहसे द्वौ भाई ।। ३/१२/४

हर रूप में भगवान को पकड़े रहने की यह एक अद्‌भुत शैली है, एक अद्‌भुत चेष्टा है। यह जो सबसे बड़ी चतुराई और बुद्धिमत्ता सुतीक्ष्ण जी के जीवन में दिखाई देती है, वही चतुराई अंगद के जीवन में भी दिखलाई देती है। अंगद ने इसी चुतराई से ईश्वर के चरणों में अपने अहंकार और स्वयं अपने आप को समर्पण करने में सफलता पाई।

अंगद ने दो कार्य किए – एक तो उन्होंने जमीन पर मुक्का मारकर रावण को उसके सिंहासन से मुँह के बल नीचे गिरा दिया और दूसरा रावण की सभा में अपना पैर रोप दिया। इन दोनों में बड़ा सुन्दर संकेत है। मुक्का मारकर रावण को मुँह के बल नीचे गिरा दिया, इसका अर्थ क्या है? अंगद को याद आ गई – अरे,'मेरी भुजाएँ क्या ऐसी-वैसी भुजाएँ हैं? ये तो वही भुजाएँ हैं, जिन्हें मेरे पिता ने अन्तिम क्षणो में प्रभु के हाथो मे पकड़ाया था और उन्होंने पकड़ लिया था। जिन भुजाओं को

प्रभु ने पकड़ लिया है, उन भुजाओं में तो प्रभु का ही बल है। रावण को मैं बता देना चाहता हूँ कि इस बन्दर की भुजाओं के पीछे जो भगवान का बल है, उसे तुम पहचानने की कोशिश करो, समझने की चेष्टा करो। यह तो ईश्वर का बल है। और जो रावण की सभा में पैर रोप दिया, उसमें हैं सन्त की वाणी में विश्वास। हनुमानजी ने कहा था – प्रभु के चरणों को हृदय में धारण करने पर अचलता आ जाती है –

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू।। ५/२३/१

ईश्वर का बल और सन्त की वाणी में अचल विश्वास, इन दोनों की आस्था लेकर अंगद ने दो कार्य किए। अब रावण के सभासदों द्वारा अंगद का पैर हटाने की चेष्टा करना, फिर भी न डिग पाना, इसका अर्थ क्या है? गोस्वामी जी ने अलग अलग सन्दर्भों में इससे अलग अलग अर्थ लिया है। एक अर्थ तो उन्होंने इसी प्रसंग में दिया है। वे कहते हैं – अंगद के पैर को राक्षस उसी प्रकार नहीं हिला पा रहे थे जैसे कुयोगी या विषयी लोग मोहरूपी वृक्ष को नहीं उखाड़ पाते –

पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी।
मोह बिटप नहि सकहि उपारी।। ६/३४/१४

अंगद का पैर क्या है? यह मोह बिटप है। यह प्रसंग बड़ा जटिल है। इसे भिन्न भिन्न सन्दर्भों में गोस्वामी जी ने भिन्न भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा – अंगद का पैर मोह का वृक्ष है और रावण तथा लंका के राक्षस सभी कुयोगी हैं। जैसे कुयोगी मोह का वृक्ष नहीं उखाड़ सकते वैसे ही ये राक्षस अंगद के पैर को हटाने में समर्थ नहीं हुए। इस पंक्ति के तात्पर्य पर विचार कीजिए। रामायण में सबसे महान् योगी – ज्ञानयोगी या कर्मयोगी महाराज जनक हैं। उनके योग की सबसे बड़ी सफलता क्या है? – श्रीराम और सीताजी को मिला देना। अब गोस्वामी जी उसे एक दूसरे रूप में यों कहते हैं। योग के ग्रन्थों में यह कहा गया कि व्यक्ति जब तीनों अवस्थाओ से ऊपर उठकर चौथी तुरीय अवस्था में जाता है, तो उसका फल है – ब्रह्म-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार। जनक भी योगी हैं। कैसे? उन्होंने पहले तो सीताजी को पाया। योग की दृष्टि से सीताजी मूर्तिमती तुरीय अवस्था हैं। गोस्वामी जी कहते हैं – जिन चारों राजकुमारियों का चारों राजकुमारों के साथ विवाह हुआ, वस्तुतः वे चारों अवस्थाएँ हैं। जाग्रत, सुषुप्ति, स्वप्न, ये तो माण्डवी, उर्मिला तथा सत्कीर्ति हैं और यह चौथी तुरीयावस्था ही सीताजी हैं –

सुंदरी सुंदर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीव उर चारिव अवस्था
बिभुन सहित बिराजहीं।। १/३२५/छं.-४

ध्यान रहे, ये बड़े सूक्ष्म संकेत हैं। ये जो तीन कन्याएँ थीं, इनका जन्म तो माताओं के गर्भ से हुआ, पर सीताजी का जन्म सुनैनाजी के गर्भ से नहीं हुआ। इसका अभिप्राय क्या है? जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का सम्बन्ध तो शरीर से है, पर शरीर से ऊपर उठे बिना तुरीयावस्था में प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिए सीताजी के जन्म में न तो महाराज जनक के शरीर का संस्पर्श है और न सुनैनाजी का। वह दिव्य तुरीय के रूप में सीताजी का एक प्राकट्य है।

इसका अभिप्राय यह है कि जनक जैसे योगी ने तुरीयावस्था को पाया। और तुरीयावस्था को पाने का चरम फल यह हुआ कि श्रीराम का आगमन हुआ, ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ। योगी के योग की जो सच्ची समग्रता थी, वह जनक जी के जीवन में आई। अब गोस्वामी जी कहते हैं कि लंकावाले भी योगी ही हैं। योग के विषय में तो आजकल बड़ी चर्चा रहती है, योग के छोटे-मोटे चमत्कारों की चर्चा रहती है, पर रावण के जीवन में तो इतनी चमत्कारिक सिद्धियाँ थीं, उनके जीवन में चमत्कारों की ऐसी अद्भुत अभिव्यक्तियाँ हुई थी, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। रावण के जीवन में ये चमत्कार कैसे आए।

इसका तो एक ही रहस्य है, मन की एकाग्रता। एकाग्रता के बिना यह सिद्धि नहीं आती। रावण मे यह क्षमता थी कि वह मन को अधिक-से-अधिक एकाग्र कर सकता था। इसलिए रावण के बारे में कहते हैं कि जब वह जिसका संकल्प करता था, तब उसका वही रूप हो जाता था। यह योग का ही चमत्कार है। पर महत्व चमत्कार का नहीं, उद्देश्य का होता है। तात्पर्य यह कि यदि कोई यह मानकर योगाभ्यास करे कि शरीर स्वस्थ रहे, वहाँ तक तो ठीक है, पर इससे आगे बढ़कर कोई यह सोचे कि योग से शक्ति मिले और उससे हम अधिक से अधिक भोग करें, तो वह बड़ा अनर्थ हुआ, उसका उल्टा अर्थ ले लिया। योग का फल यदि जीवन में भोग हो जाय, तब तो यह एक उच्चतर स्थिति से स्वयं को एक निम्न, एक अधोगामी स्थिति में डालना हो गया।

रावण के जीवन में योग का उद्देश्य अन्तःकरण की शुद्धि तो थी नहीं। वह तो अन्तःकरण की शुद्धि से बड़ा घबराता है। बड़ी प्रसिद्ध कथा है कि कुम्भकरण ने जब रावण से कहा कि सीताजी को जब तुम हरण करके ले ही आए हो, तो राम का रूप बना लेते, सीताजी को भ्रम हो जाता। रावण बोला – मैंने प्रयत्न तो किया ...। – तो क्या हुआ? क्या श्रीसीताजी ने तुम्हें पहचान लिया? रावण ने कहा – सीताजी के पास जाने की स्थिति ही नहीं आई। – क्यों? बोला – राम का रूप बनाने के लिए पहले राम का ध्यान तो करना ही पड़ता है। मैं एकान्त में बैठकर राम का ध्यान करने लगा। पर ज्यों ज्यों मेरा मन राम के ध्यान में एकाग्र होता गया, त्यों त्यों मेरा मन पवित्र होने लगा और सारे संसार की स्त्रियाँ मुझे माता दिखाई देने लगीं। मैं तो डर गया कि यदि थोड़ी देर और ध्यान करूँगा, तो कहीं मुझे अपने राज्य से ही विराग न हो जाय।

इसलिए मैंने ध्यान करना छोड़ दिया –

आनीता भवता यदि पतिरता साध्वी धरित्री सुता
स्फूर्जलद-राक्षसात् मायया न च कथम् ।
रामांगभंगीकृतं कस्तुश्चेत श्रीरामरूप गमनम् ।
दुर्वादलश्यामलं तुच्छं ब्रह्मपदं परवधूप्रसंगः कुतः।।

अतः रावण के योग का उद्देश्य क्या है? अमर हो जाना, कभी बूढ़ा न होना, अनन्त काल तक संसार के समस्त भोगों को भोगना। और हुआ भी यही था। योग के द्वारा रावण इतनी शक्ति पा गया था कि युद्ध में भगवान राम जब उसके सिर और भुजाएँ काट देते थे, तो वे फिर निकल आते थे। रावण किसी तरह मर ही नहीं रहा था। भगवान विभीषण से पूछते हैं – यह मरेगा कैसे? विभीषण जी ने कहा –

नाभीकुंड पियूष बस जाके ।
नाथ जियत रावनु बल ताकें ।। ६/१०२/५
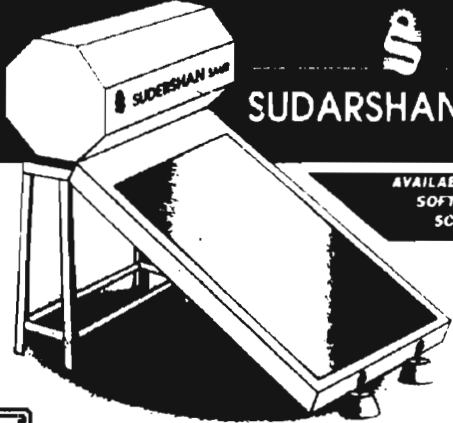
यह तो योग की सिद्धियों का दुरुपयोग ही हुआ न ! योगी तो विदेह नगर वाले हैं, जो सीता और राम को मिलाते हैं। पर रावण से बढ़कर कुयोगी कौन है जो श्रीसीता रूपी तुरीय को श्रीराम से अलग करने की चेष्टा करता है। योग का फल है – तुरीय और ब्रह्म में एकत्व। पर जहाँ योग का उद्देश्य केवल शक्ति पाना हो और ब्रह्म को जीवन से दूर कर दिया जाय, वही लंका का दर्शन है और यह योग नहीं कुयोग है। सीताजी रूपी तुरीय को पाने के लिए ये दो स्थान, दो मार्ग हैं – एक जनकपुर और एक लंका। जनकपुर में जो शिव का धनुष है, वह मूर्तिमान समष्टि अहंकार है और यहाँ गोस्वामी जी कहते हैं कि अंगद का जो चरण है, वह मोह है। अब दोनों के लिए अलग अलग शब्द चुना गया। धनुष को तोड़ना है, पर अंगद के पैर को तोड़ना नहीं, उखाड़ना है।

अंगद का पैर मोह है और शिव का धनुष अहंकार। साधना और योग का चरम फल क्या है? धनुष का टूटना अर्थात् अहंकार का टूटना। इसका अभिप्राय है कि अहंकार को तोड़ना पड़ेगा और मोह तोड़ने की नहीं, उखाड़ने की वस्तु है। क्यों? इसका संकेत क्या है? – जो वस्तु बाहर है, उसे आप तोड़ दीजिए। वृक्ष की डाल को आप तोड़ दें तो उसका मूल तो भीतर है न ! वह तो तभी नष्ट होगा जब उसे जड़ से उखाड़ा जाएगा। अहंकार तो इसी जीवन में किसी-न-किसी कारण से होता है। पद मिला तो अहंकार हो गया, धन मिला तो अहंकार हो गया, बुद्धि मिली तो अहंकार हो गया। इसलिए इस अहंकार को तोड़ना है, जो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। पर मोह की विचित्रता यह है कि वह जितना बाहर दिखाई देता है, उससे अधिक भीतर होता है। वह तो पूर्व जन्मों से अभ्यास के रूप में अन्तःकरण में संचित है। **अहंकार वर्तमान में जन्म लेता है और मोह न जाने कबसे व्यक्ति के अन्तःकरण में संस्कार के रूप में संचित है।** इसका तात्त्विक अभिप्राय यह है कि शान्तिरूपा या तुरीयारूपा सीताजी तब मिलेंगी, जब हम अहंकार तथा मोह पर विजय प्राप्त कर लेंगे। अहंकार खण्डित हो जाय और मोह उखड़ जाय। हनुमान जी ने लंका के वाटिका के वृक्षों को उखाड़ दिया, मोह को उखाड़कर उसका ध्वंस कर दिया और सीताजी को पा लिया। जो मोह का ध्वंस कर देता है, मोह को उखाड़कर फेंक देता है, जो अहंकार को खण्डित कर देने को तैयार है, वही व्यक्ति शान्तिरूपा, तुरीयरूपा सीताजी को पाने में समर्थ है। रावण उन्हीं सीताजी को श्रीराम से अलग करके पाना चाहता है। अंगद का तात्पर्य था कि तुम तो स्वयं मोहग्रस्त हो, तुम सीताजी को कैसे पाओगे? जब तुम मोह पर विजय पा लोगे, मोह को मूल से मिटाओगे, तब तुम्हें सीताजी के रूप का ज्ञान होगा, तब तुम्हें सीताजी मिलेंगी। पर तुम्हारे लिए यह सम्भव नहीं है। गोस्वामी जी एक रूप में यह कहते हैं मानो यह जो मोहग्रस्त रावण है, वह शान्तिरूपा सीताजी को पाया हुआ दिखाई देते हुए भी उन्हें सही अर्थों में पाया नहीं है और न ही उन्हें पाने में समर्थ है। इसी को गोस्वामी जी भक्ति के सन्दर्भ में, धर्म के सन्दर्भ में भिन्न भिन्न रूपों में देखते हैं।

❖ **(क्रमशः)** ❖

जीने की कला (२२)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

असम्भव नहीं

निस्सन्देह यह प्रश्न पुन: उठ सकता है कि क्या सचमुच हम उन लोगों के प्रति घृणा करने से स्वयं को रोक सकते हैं, जिन्होंने हमारे घर तोड़े हैं, हमें पीड़ा दी है, हमारे सम्बन्धियों को क्षति पहुँचाई या हमारी स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार किया है?

किसी व्यक्ति के स्वभावत: क्रूर, असंयमित, उग्र तथा पशु-प्रवृत्ति होने के कारण ही उससे घृणा करना वैसा ही है जैसा कि हाई स्कूल में अध्ययनरत कोई बालक तीसरी कक्षा उत्तीर्ण न कर पानेवाले और बीजगणित न जाननेवाले किसी प्राथमिक विद्यालय के बालक को तुच्छ और हेय समझता है। क्या आप किसी पत्थर के टुकड़े से केवल इसलिए घृणा करते हैं कि वह एक पत्थर है? हम केवल इतनी सावधानी भर बरतते हैं कि कहीं हम उससे ठोकर खाकर घायल न हो जायँ। हम उसे प्रकृति की असंख्य वस्तुओं में से एक के रूप में स्वीकार करते हैं। नीच, दुष्ट, पाशविक-वृत्ति तथा कम-विकसित लोगों से घृणा करना पत्थर के टुकड़े से घृणा करने के समान ही है। गौतम बुद्ध ने कहा था, "घृणा को प्रेम से जीतो।" स्वयं को शूली पर चढ़ानेवाले लोगों के लिए प्रार्थना करते हुए ईसा मसीह ने कहा था, "हे स्वर्गस्थ पिता! उन्हें क्षमा कर दो। क्योंकि उन्हें यह मालूम नहीं कि वे क्या कर रहे हैं।" महर्षि पातंजलि अपने योगसूत्र में इसी भाव से कहते हैं, "दुष्टों और पापियों के प्रति उपेक्षा और उदासीन-भाव रखो।" घृणा नकारात्मक ढंग से मनोबल को प्रभावित करती है। निम्नलिखित घटना दर्शाती है कि घृणा कितनी संकुचित बना सकती है –

पुणे के एक अखबार में यह खबर छपी थी। आठ वर्ष का एक बालक प्रेतात्मा के उत्पीड़न से त्रस्त था। उसके धनवान पिता ने इस कष्ट के इलाज पर काफी धन व्यय किया, पर सब व्यर्थ हुआ। उन्होंने सुना कि नरसोबा बाड़ी के दत्तात्रेय मन्दिर में ऐसे पीड़ितों का उपचार किया जाता है। माता-पिता बालक को लेकर वहाँ गए और दो माह तक वहीं रहे। उन्होंने मन्दिर के देवता की उपासना और प्रार्थना की। अन्तत: प्रेत ने उस बालक को तंग करने के रहस्य को प्रकट किया, "मैं सड़क पर टहल रहा था। इस व्यक्ति ने गले में फन्दा डालकर मुझे मार डाला और मेरे पास के ५०० रुपये छीन लिए। मरणोपरान्त मैं प्रेत बन गया। मैं पिछले सात जन्मों से अपने हत्यारे को ढूँढ़ रहा था। अन्तत: मैंने इसे पकड़ ही लिया। मैं इसे नहीं छोड़ूँगा।" अपने पुत्र के बारे में काफी चिन्तित होकर पिता ने कहा, "मैं ब्याज के साथ तुम्हारे रुपये, तुम जैसे भी कहो, लौटाने के लिए तैयार हूँ।" प्रेत बोला, "इसने मुझे मार डाला था। मैं भी इसे मार डालूँगा।" प्रेत ने उस बालक को कभी नहीं छोड़ा। बालक शीघ्र ही मर गया।

अपने हत्यारे से बदला लेने को कृत-संकल्प वह प्रेत सात जन्मों तक उस दुखदायी प्रेतयोनि में पड़ा रहा। उसका हत्यारा तो किसी तरह अपने पाप का दण्ड पा गया। प्रतिकार की भावना ने उसकी कोई आध्यात्मिक उन्नति नहीं होने दी और वह सात जन्मों तक प्रेतयोनि में ही दु:ख भोगता रहा।

जिससे आप घृणा करते हैं, अन्तत: आप भी वही बन जाते हैं। जैसे भय का चिन्तन आपको भय के गर्त में खींच ले जाता है, वैसे ही किसी के प्रति घृणा भाव आपको घृणास्पद व्यक्ति की मानसिक स्थिति तक पहुँचा देता है।

मनुष्य जिस महानतम तथा सर्वोत्कृष्ट भाव की अभिव्यक्ति में सक्षम है, वह है नि:स्वार्थ प्रेम। नि:स्वार्थ प्रेम साक्षात् भगवान का रूप है। नि:स्वार्थ प्रेम के माध्यम से हम अपनी अन्तर्निहित दिव्यता को ही अभिव्यक्त करते हैं।

परन्तु नि:स्वार्थ प्रेम का विकास करना सहज नहीं है। इसमें दीर्घकाल तक प्रयत्न की आवश्यकता होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्ति देर-सबेर यह अवस्था प्राप्त करने को बाध्य है। अतएव आशा छोड़ने की कोई जरूरत नहीं। प्रयत्न करते रहना चाहिए और बाद में परिणाम निश्चय ही उल्लेखनीय होगा। अंग्रेज कवि कॉलरिज कहते हैं –

छोटे-बड़े सभी जीवों से,
सहज प्रेम जो करता व्यक्ति।
यह उसकी है श्रेष्ठ प्रार्थना,
और यही सर्वोत्तम भक्ति।।
हम सबके प्रिय प्रभु परमात्मा,
करते हमसे प्रेम अपार।
सब जीवों के सर्जक हैं वे,
सबसे करते हैं वे प्यार।।

प्रतियोगिता घृणा का भाव पैदा करती है

प्रतियोगिता-प्रथा की बुराई के बारे में समाजशास्त्री प्रीतिम ए. सोरोकिन कहते हैं, "प्रतियोगिता सिद्धान्त के लघुतम रूप से लेकर उसके गलाकाट रूप तक के आविर्भाव के कारण उससे व्यक्तिगत तथा सामूहिक तौर पर, आपसी सहायता की

जगह आपसी संघर्ष और प्रेम की जगह आक्रामकता के भाव उत्पन्न होते हैं।''

किसी प्रतियोगिता का कोई प्रत्यासी स्वभावत: जीतना ही चाहता है। अपने लक्ष्य में सफल होने के लिए वह हर प्रकार की योजनाओं तथा तरकीबों को आजमाता है। स्वस्थ प्रतियोगिता, एक सीमा तक निस्सन्देह अच्छी है, परन्तु धन तथा पद-प्रतिष्ठा की प्रतिस्पर्धा में, लोक-निकायों की सदस्यता के लिए होनेवाले चुनावों में तथा व्यवसाय के क्षेत्र में यह स्पर्धा खतरनाक रूप धारण कर लेती है। प्रतिस्पर्धा की यह भावना मनुष्य के भीतर छिपी दुष्प्रवृत्तियों को उभारती है, जिससे व्यक्ति अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिए शक्ति, छल-कपट, रिश्वत और भयदोहन जैसे हर उपाय का सहारा लेता है।

भारतीय सामाजिक-प्रणाली की व्यवसाय-आधारित जाति-प्रथा पाश्चात्य जगत् में प्रचलित गलाकाट प्रतियोगिता से बेहतर है। इसे समझने के लिए हमें प्राचीन भारत के गाँवों के लोगों के जीवन का अध्ययन करना होगा। वहाँ बढ़ई, सुनार, नाई और धोबी जैसे लोगों के बीच कोई प्रतियोगिता की भावना नहीं थी। हर व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए दूसरे पर निर्भर था। अपने बच्चों को जीविका-निर्वाह में सक्षम बनाने हेतु उनके प्रशिक्षण के लिए वे चिन्तित नहीं रहते थे। पेशे की शुरुआत के लिए उन्हें विभिन्न लोगों के पास भिक्षापात्र लेकर नहीं जाना पड़ता था। किसी अजनबी द्वारा उनका पेशे पर कब्जा जमाकर उन्हें उनके व्यवसाय से निकाल बाहर करने की चिन्ता भी उन्हें नहीं थी। क्या लोगों को साधारण शान्तिमय जीवन बिताने में समर्थ बनानेवाली यह प्रथा केवल संघर्ष और द्वेषभाव को बढ़ावा देनेवाली प्रतियोगिता प्रणाली से बेहतर नहीं थी? निस्सन्देह यहाँ जातिप्रथा के पुनरुद्धार के लिए वकालत नहीं किया जा रहा है। हमारा तो बस इतना ही कथन है कि उस प्राचीन प्रणाली में घृणा तथा वैरभाव के लिए कोई जगह नहीं थी। ये घृणा तथा वैरभाव सदैव प्रतियोगिता से उत्पन्न होते हैं। परन्तु आज भी हम किसी पेशे के एक जाति में रूपान्तरित होने की सम्भावना से इनकार नहीं कर सकते। यदि रेलवे के कर्मचारी अपने बच्चों के लिए रेल विभाग में रोजगार के आरक्षण की कामना करे या यदि डाक-तार विभाग के लोग अपने बच्चों की नौकरियों के आरक्षण का दावा करें, तो क्या इस पर हमें आश्चर्य होगा! यदि यही प्रवृत्ति जारी रही, तो इसके फलस्वरूप एक नये तरह की जाति-प्रथा बन जाएगी। दर्जियों और लुहारों की तरह रेलवे कर्मचारियों, डाक कर्मचारियों और इसी तरह अन्य लोगों की जातियाँ बन जाएँगी। क्या तब वे लोग एक-दूसरे से झगड़ा करेंगे?

मैं यहाँ केवल इतना ही बताना चाहता हूँ कि प्रतियोगिता की भावना से उत्पन्न ईर्ष्या तथा घृणा की बुराइयों से बचने के लिए प्राचीन जाति-प्रथा किस प्रकार सहायक थी। चूँकि हमने स्वाधीनता संग्राम के बाद चुनाव कराना प्रारम्भ किया, इसलिए हमारे गाँवों में लोगों के बीच का मैत्री तथा सद्भाव चला गया है। पहले वे लोग इस सिद्धान्त पर चलते थे, ''हमारी अपनी जीवन-शैली है और आपकी अपनी; जियो और जीने दो।'' असंख्य राजनैतिक नेता मंच से घोषणा करते हैं, ''जाति-प्रथा समाप्त करो।'' परन्तु उनके कार्य केवल जातिगत भावनाओं को उभारते हैं, जातीय समीकरण के आधार पर वोट हासिल करते हैं और सर्वत्र घृणा की आग जलाते रहते हैं। यदि आप किसी जाति से घृणा करने लगते हैं, तो आप उनके भीतर कभी कोई अच्छाई नहीं देख सकेंगे। आप केवल उन गल्तियों को ही उजागर करते रहेंगे, जिन्हें आपने अतीत काल में नहीं देखा था। अपने को इस पूर्वाग्रह से मुक्त किये बिना हम कुछ भी हासिल नहीं कर सकेंगे।

अँग्रेजों की 'फूट डालो और राज्य करो' - नीति

ऐसा लगता है कि भारत के शिक्षित लोग और नेतागण भी यह नहीं जानते कि अँग्रेज शासकों द्वारा भारतवासियों के बीच एकता का नाश करने हेतु समझ-बूझकर एक योजना बनाई गयी थी। ताराचन्द अपने 'भारत की स्वाधीनता का इतिहास' नामक ग्रन्थ में मिस्टर वुड द्वारा तत्कालीन वायसराय एल्गिन को लिखित एक पत्र से उद्धरण देते हैं, ''हमने एक पक्ष को दूसरे पक्ष से लड़ाकर अपनी सत्ता कायम रखी है और हमें इसे जारी रखना चाहिए। अतएव, सबको एक समान भाव रखने से रोकने के लिए आप जो भी कर सकें, उसे करें।''

यद्यपि अँग्रेज भारत छोड़कर चले गए, तथापि हम इस देश में आपसी सन्देह और घृणा की आग को हवा देते रहे हैं। हमारे शिक्षित लोग यह समझने में असफल रहे कि ईर्ष्या और आपसी घृणा से छुटकारा पाए बिना हम अच्छे नागरिक नहीं बन सकते। हमारी शिक्षा-प्रणाली खेदजनक ढंग से प्रबुद्ध नागरिकता की भावना को अपनाने में विफल रही है। कितने दुख की बात है कि स्वतंत्र भारत में रहते हुए अब भी हम गुलामों की भाँति आचरण कर रहे हैं।

चलिए हम यहाँ हिन्दू समाज की विभिन्न जातियों के बीच व्याप्त पारस्परिक घृणा और सन्देह के कारणों का अध्ययन कर लें। ब्रिटिश शासन के दौरान सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने के लिए कठिन प्रतियोगिता होती थी। इससे निम्न वर्गों में ब्राह्मणों के प्रति ईर्ष्या-भाव पैदा होने लगा। अन्य लोगों के बीच सन्देह का बीज बोने के लिए यहाँ ब्राह्मणों द्वारा किया हुआ अन्याय जिम्मेदार नहीं था। ब्राह्मणों के प्रति यह सन्देह और घृणा भारत के सभी भागों में विद्यमान नहीं है। उदाहरणार्थ बंगाल में बहुसंख्यक सरकारी नौकरियों को प्राप्त करनेवाले गैर-ब्राह्मणों के प्रति घृणा की भावना उतनी तीव्र नहीं है।

यद्यपि ब्राह्मण लोग स्वयं को सर्वोच्च वर्ग का मानते रहे, (और क्या वे सचमुच ही सर्वोच्च वर्ग हैं? अज्ञानता, निर्धनता, संकीर्ण मानसिकता, स्वार्थपरायणता और दुख-दर्द सभी जातियों में व्याप्त हैं।) और एक-न-एक कारण से उन्होंने कभी अन्य जातियों के साथ प्रेम और आदरपूर्ण व्यवहार नहीं किया। अन्य वर्गों के हित के लिए कुछ लोगों ने यत्र-तत्र कुछ कार्य भले ही किया हो, परन्तु एतदर्थ कोई चिरस्थायी और संगठित प्रयत्न नहीं किए गए। निम्न वर्गों में आध्यात्मिक दृष्टिकोण जागृत करने के लिए ईमानदारी पूर्वक कोई प्रयत्न नहीं हुआ। उच्च वर्गों ने निम्न वर्गों को ऊपर उठाने के लिए कोई सच्चा प्रयत्न नहीं किया। सदियों से शिक्षा और संस्कृति से वंचित रह चुके तथा लोगों द्वारा अनादृत जनता के निर्बल वर्ग ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद अपनी हीन-भावना से मुक्त होकर आत्मविश्वास प्राप्त कर लिया। उन्होंने पूर्व काल में अपना अनादर व उत्पीड़न करनेवाले लोगों के खिलाफ अपना क्रोध प्रकट किया। पर इन असन्तुष्ट लोगों को भड़काने और ब्राह्मणों के खिलाफ खड़ा करने की अँग्रेजों की चाल को कोई भी नहीं समझ सका। उन्हें तो अपना उल्लू सीधा करना था।

पूर्व काल में ब्राह्मण लोग गाँवों में विद्यालय चलाकर बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाते थे। उन विद्यालयों में शिक्षा पानेवाले ग्रामीण उनकी जीवन के निर्वाह में मदद करते थे। केवल कुछ ब्राह्मण विद्वान् ही राजकीय संरक्षण प्राप्त करते थे। अँग्रेजों ने प्रशासन चलाने में मदद प्राप्त करने के उद्देश्य से लोगों को प्रशिक्षित करने के लिए विद्यालय खुलवाए। ये आधुनिक विद्यालय परम्परागत ग्रामीण विद्यालयों के प्रतिद्वन्द्वी होकर अधिकाधिक शक्तिशाली हो गए। चूँकि अध्यापन ब्राह्मण समुदाय का मुख्य पेशा था, इसलिए आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्हें नए विद्यालयों में दाखिल होना पड़ा। इस शिक्षा से उन्हें सरकार के अधीन नौकरियाँ मिलीं। नयी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणेतर वर्गों के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं था, परन्तु जीविका-निर्वाह के लिए अपने परम्परागत उद्यमों पर निर्भर रहने के कारण उन्होंने आधुनिक शिक्षा की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दिया। वे नौकरी के लिए अपनी जमीन -जायदाद और घर-द्वार छोड़कर सुदूर स्थानों में जाने को भी तैयार नहीं थे। क्रमश: ब्राह्मण सरकारी नौकरियों में महत्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित होते गए। वे अच्छा वेतन और सम्मान पाते थे। आधुनिक शिक्षा से लैस उनके बच्चों ने स्वतन्त्रता-संघर्ष विषयक बातें करके अँग्रेजों को भगाने का संकल्प कर लिया। अँग्रेज इस चुनौती का सामना करने की कला जानते थे। वे निम्न वर्गों से कहने लगे, "देखो, इन ब्राह्मणों ने सभी सरकारी पदों पर एकाधिकार कर लिया है। वे सदियों से तुम्हारा शोषण करते रहे हैं। क्या तुम उनकी जगह लेना नहीं चाहोगे या तुम केवल निष्क्रिय दर्शक ही बने रहोगे?" उच्च जातियाँ निम्न जातियों का विश्वास और सद्भाव जीत पाने में विफल रहीं। उच्च जातियों ने अन्य जातियों को अँग्रेजों के इस दुश्चक्र से अवगत कराने में भी उपेक्षा दिखाई। इसी बीच ब्राह्मणेतर जातियाँ भी आधुनिक शिक्षा का लाभ पाने लगीं। परन्तु तब तक रोजगार के अवसर समाप्तप्राय हो गए थे। फिर गलाकाट प्रतियोगिता एक स्वाभाविक परिणाम हो गई। आधुनिक शिक्षा के कौशल को आत्मसात् करने का अवसर ब्राह्मणों को अधिक मिला था, अत: अधिकतर नौकरियाँ उन्हीं को मिलीं। अन्य लोग स्वाभाविक रूप से उनसे ईर्ष्या करने लगे। आरोप और प्रत्यारोप बढ़ते गए और अब ब्राह्मणों को नौकरियों से वंचित करने के प्रयास किए जा रहे हैं। न तो ब्राह्मण और न ही ब्राह्मणेतर लोग इस बात से अवगत हैं कि बाहरी शक्तियाँ इस कटुता का लाभ उठा रही हैं। कहा जाता है कि पारस्परिक घृणा और द्वेष दासता के चिह्न हैं। दुर्भाग्यवश, लोगों ने इस प्रवृत्ति को कायम रखा है या बल्कि इसका और भी अधिक विकास किया है। अतीत काल में, विदेशी शासन के अधीन विभिन्न दास-वर्ग, घृणा, पूर्वाग्रह और नापसन्दगी के कारण आपस में निरन्तर संघर्षरत रहते थे। खेद की बात है कि आज भी इस प्रवृत्ति के घटने के कोई आसार नजर नहीं आते।

किसी भी समाज में, यदि विकसित समूह निर्बल समूहों के हित-साधन का प्रयास न करें, तो वे स्वयं अपनी ही कब्र खोद लेते हैं। प्रतियोगिता के जरिए रोजगार पाने में सफल रहने वाले ब्राह्मण क्या सचमुच सुखी हो गए? अपनी आजीविका के लिए वे अपना घर-द्वार छोड़कर, एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहे, अपनी परम्परागत आध्यात्मिक साधन गवाँ बैठे, अन्य समुदायों की दुर्भावना के पात्र बने और अपने बच्चों के भविष्य के बारे में चिन्तित रहने लगे।

पाश्चात्य देशों का अनुसरण करके, आज भारतीय लोगों ने भी आवश्यक रूप से प्रतियोगिता को स्वीकार कर लिया है। परन्तु प्रयत्न सच्चा होने पर दुर्भावना की तीव्रता को घटा लेना हमारे लिए कठिन नहीं होगा। आध्यात्मिक प्रवृत्ति इस लक्ष्य को प्राप्त करने में वास्तविक मदद करेगी। समूह बनाना और सामूहिक पहचान विकसित करना प्राय: प्रकृति का एक नियम है। परन्तु यदि हम घृणा के बीज बोते हैं, तो सर्वांगीण विनाश की ओर अग्रसर होंगे। प्राय: सभी धार्मिक समुदायों में अनेक समूह तथा उपसमूह होते हैं। यहाँ तक कि ईसाईयों में भी प्राय: २५० समूह तथा उपसमूह हैं। इसी तरह मुसलमानों में भी समूह हैं। इस भागदौड़ के संसार में, राजनैतिक संसार में, छोटे समूहों और दलों में विभाजन एक स्वाभाविक बात है।

यह आवश्यक भी हो सकता है। परन्तु इस समूह-चेतना को कभी विकृत होकर अन्य वर्गों के प्रति दुर्भावना में नहीं परिणत होना चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि घृणा एक खतरनाक शक्ति है। समझ और सद्भाव बढ़ाने हेतु हर

समूह के सदस्यों को अन्य समूहों के गुणों व विशेषताओं को महत्वपूर्ण मानकर उन पर बल देने की चेष्टा करनी चाहिए। उनकी कमियों को बढ़-चढ़ा कर प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। अन्यथा यह पाप-कर्म महान् क्षति की ओर ले जाएगा।

प्रेम से सहानुभूति पैदा होती है

गोंदवलेकर ब्रह्मचैतन्य महाराज एक सिद्ध महात्मा थे, जो १९१४ ई. तक जीवित रहे। उनके द्वारा अपने एक शिष्य को बचा लेने की एक घटना स्मरणीय है। एक बार श्री ब्रह्मचैतन्य महाराज से दीक्षाप्राप्त एक व्यक्ति कुसंग में पड़कर पापाचार में लिप्त हो गया। एक रखैल के मोह में पड़कर वह अपनी सारी सम्पत्ति गवाँ बैठा। उसके रिश्तेदारों ने उसका परित्याग कर दिया। ब्रह्मचैतन्य महाराज के अन्य शिष्य तथा अनुयायी उसका स्वागत नहीं करते थे। एक बार ब्रह्मचैतन्य महाराज गड़ग के श्री भीमराव के घर में ठहरे थे। वह व्यक्ति उस घर के सम्मुख खड़े होकर भिखारी के सदृश प्रवेश की याचना करने लगा। ब्रह्मचैतन्य महाराज ने उसे बुलाया। घर में घुसते ही वह महाराज के चरणों में गिर पड़ा और हाथ जोड़कर उनके सम्मुख खड़ा हो गया। महाराज ने कहा, "लोगों ने तुम्हें सदा के लिए पतित समझकर छोड़ दिया है, परन्तु मैं तुम्हें पतित नहीं रहने दूँगा।" आश्वासन तथा सांत्वना की वाणी सुनकर वह सिसक सिसक कर रोने लगा। उसके सामान्य अवस्था में आने पर महाराज ने कहा, "यदि तुम्हें सचमुच पश्चात्ताप हो रहा है, तो मैं तुम्हारा उत्तरदायित्व ले लूँगा। तुम्हारे पापों का जिम्मेदार मैं रहूँगा। परन्तु तुम्हें भगवान राम के नाम की शपथ लेकर कहना होगा कि तुम भविष्य में फिर ऐसे कार्य नहीं करोगे।" उस व्यक्ति ने दया की भीख माँगी और गुरु के प्रति निष्ठा-भक्ति की सौगन्ध खायी। महाराज के प्रेम और सहानुभूति ने उसके पापबोध को जलाकर भस्म कर दिया और उसमें आत्मविश्वास भर दिया। उसने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया और अध्यात्म-पथ पर आगे बढ़ता गया।

सकारात्मक दृष्टिकोण का महत्त्व

यहाँ एक अन्धी महिला का उदाहरण है, जिसने जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण की सहायता से अपने दुर्भाग्य का सामना किया। वह ईश्वर या आध्यात्मिकता के बारे में कुछ नहीं कहती थी, पर उसके चरित्र की उदारता ही हमें उसकी महान् आध्यात्मिक उपलब्धि का बोध कराती है। यह घटना डॉ. प्रभु शंकर की कन्नड़ पुस्तक 'जन-मन' से ली गई है।

श्रीमती हैरियट एक अन्धी अमेरिकी महिला थीं। वे भारत में संगीत का अध्ययन करने हेतु आयी थीं। बचपन में ही एक दुर्घटना में उनकी आँखों की ज्योति चली गई, पर अपने धैर्य तथा अध्यवसाय से उन्होंने ब्रेल लिपि सीखकर विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त कर ली। लेखक के साथ वार्तालाप के दौरान उन्होंने बताया कि जीवन में इस कठिनाई का सामना करते हुए उन्नति करने में उनके माता-पिता ने उनकी किस प्रकार मदद की, "मेरे माता-पिता विश्वास और साहस से भरे थे। उन्होंने एक अन्धी पुत्री की जिम्मेदारी स्वीकार करके धीरे धीरे नयी परिस्थिति के साथ सामंजस्य बिठा लिया। वे अपने अन्य बच्चों के समान ही स्नेहपूर्वक मेरी देखभाल किया करते थे।

– "इसका तात्पर्य?"

– "उन्होंने यह नहीं सोचा कि अन्धेपन के कारण मुझे विशेष देखभाल और सेवा की जरुरत थी। उन्होंने मेरे क्रिया-कलापों पर अंकुश नहीं लगाया। मैं दौड़ती थी, तैरती और कूदती भी थी। मेरे क्रिया-कलापों में वे प्राय: हस्तक्षेप नहीं करते थे। वे केवल यह देखा करते कि मेरी प्रगति कैसी हो रही है। बहुत जरूरी होने पर या कुछ वास्तविक खतरा भाँप लेने पर ही वे मेरी मदद करने आते थे। इससे मुझे बड़ी सहायता मिली।"

– "कैसे"

– "इससे मुझमें खूब साहस और आत्मविश्वास आ गया। मैं स्वाधीन भाव से अपना विकास कर सकती थी। मुझे यह बोध ही नहीं होता था कि मैं वीकलांग तथा दृष्टिहीन हूँ, या मैं कभी दूसरों के समान जीवन में आगे नहीं बढ़ सकती।

"आप अपने भोजन की समस्या से कैसे निपटती हैं?"

"मैं अपना भोजन खुद पकाती हूँ। मुझे खाना बनाना बड़ा अच्छा लगता है। मेरी माँ इस बात पर चकित रहती हैं कि मैं इतना अच्छा खाना कैसे पका लेती हूँ। मैं रसोईघर के डिब्बों और पैकेटों को स्पर्श से पहचान लेती हूँ। मेरा हाथ ही मेरा माप है। दूध के ठीक उबलने का बोध मैं उसकी आवाज से कर लेती हूँ। मुझे यह पता है कि विभिन्न अनाजों और सब्जियों को पकने में कितना समय लगता है। भोजन पकाना तो मेरे लिए कोई समस्या ही नहीं है।"

– "श्रीमती हैरियट, आपमें एक अन्य विस्मयकारी चीज देखता हूँ। आप हमेशा अत्यन्त प्रसन्न रहती हैं। इस भवन की सीढ़ियों पर चढ़कर अपने मित्र के पास पहुँचकर आप इतनी जोर से हँसती-चिल्लाती हैं कि मानो छत ही उड़ जाएगी। आपकी इस खुशी और मनमौजीपन का क्या रहस्य है?"

– "मेरी हँसी-खुशी का पर्याप्त कारण विद्यमान है। इस संसार में असंख्य लोग नियमित भोजन, वस्त्र या रहने के लिए एक झोपड़ी से भी वंचित हैं। मुझे इसका कोई अभाव नही है। इसके अतिरिक्त मुझे शिक्षा और जानकारी भी प्राप्त है। क्या ये किसी सम्पत्ति से कम हैं? ये सब आनन्द के स्रोत हैं। हमें अब और कितना चाहिए?"

– "क्या आप अन्धता के कारण निराश नहीं होतीं?"

– "कभी नहीं। संसार ने हमें काफी कुछ दिया है। इसके

बदले हम संसार को कितना देते हैं? बहुत कम। फिर भी यह संसार हमें बहुत कुछ दे रहा है। शायद इससे अधिक आशा करना भी गलत है। और अधिक याचना करने का हमें क्या अधिकार है? यदि हम इसका अधिकाधिक स्मरण रखें, तो हम सुखी और प्रसन्न रह सकते हैं?''

हैरियट का साहस हमारे लिए एक अनुकरणीय उदाहरण होना चाहिए। उनमें अपनी विकलांगता को परास्त करने का असाधारण साहस था।

एक बार हैरियट बैंक गईं। जिस लेन-देन में सामान्यतया दस मिनट लगते हैं, उसमें उस दिन उसे एक घण्टा लग गया। किसी ने शिष्टाचार के नाते भी उनसे उनकी कठिनाई के बारे में नहीं पूछा। वैसे वह किसी विशेष व्यवहार की अपेक्षा भी नहीं करती थी। उस अमेरिका के आए हुए एक चेक को स्पर्श मात्र से समझकर उसे भुगतान के लिए दे दिया। एक अन्य चेक को तत्काल नकदीकरण हेतु देकर उसने काउन्टर पर तदनुसार अपनी आवश्यकता बताई। उसने एक दफ्ती के टुकड़े की सहायता से हस्ताक्षर किया। एक क्षण के लिए भी उसका तेवर नहीं चढ़ा। वह रंचमात्र भी नाराज नहीं हुई।

एक अन्य समय उसकी एक सहेली का एक अस्पताल में आपरेशन हुआ। हैरियट ने अपनी अन्य सहेलियों की इच्छा के विपरीत उस सहेली की दिन-रात सेवा की। अन्धी हैरियट दीवारों का सहारा लेकर अस्पताल में आया-जाया करती थी।

क्या हम भी हैरियट के समान, प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रभाव से अपने स्वभाव को बचाए रखकर, जीवन का मुकाबला कर सकते हैं? हम अपने अनेक मित्रों की अपेक्षा अधिक सौभाग्यशाली हैं। परन्तु हमारी कामनाओं और असन्तोष का कोई अन्त ही नहीं। हम सदैव असन्तुष्ट और चिड़चिड़े बने रहते हैं। यदि हम स्वयं ही अपने सकारात्मक गुणों को सबल बनाकर अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न करें, तो जीवन सुखी और सार्थक हो जाएगा। ❖ **(क्रमशः)** ❖
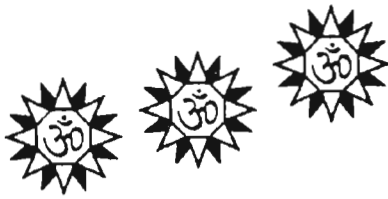
मकर-संक्रान्ति का पर्व

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

(प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय)
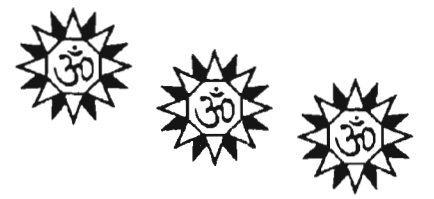
मकर संक्रान्ति का पर्व एक ऐसा पर्व है, जिसका स्वरूप जनोत्सव का है। भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में लोकप्रिय और सम्मान्य इस पर्व के साथ विशिष्ट धार्मिक आस्थाएँ व रीति-रिवाज जुड़े हुए हैं।

संक्रान्ति का पर्व का सम्बन्ध सूर्य के राशि संक्रमण से होता है। मेष-वृषादि बारह राशियों में से प्रत्येक पर सूर्य एक मास तक रहता है। सूर्य जिस दिन एक राशि से दूसरी राशि में संक्रमण करता है, वह दिवस संक्रान्ति दिवस होता है। अमावस्या, पूर्णिमा तथा संक्रान्ति का समय दान-पुण्य, यश-हवन तथा पवित्र नदियों में स्नान आदि के लिए विशेष अनुकूल और फलप्रद स्वीकार किया गया है। यों तो बारह राशियों में सूर्य के संक्रमण से बारह संक्रान्तियाँ हुआ करती हैं, किन्तु मेष और मकर राशियों की संक्रान्ति विशेष महत्वपूर्ण मानी गयी है। इन सभी संक्रान्तियों का सम्बन्ध सूर्य की उत्तरायण और दक्षिणायण गतियों से है।

माघ के महीने में सूर्य धनु से मकर राशि में संक्रमण करता है और अपनी उत्तरायण गति से प्रविष्ट होता है। सूर्य की उत्तरायण गति अत्यन्त शुभ मानी जाती है, इसीलिए शर-शय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह ने प्राण त्यागने के लिए सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा की थी। माघ मास में पड़नेवाली यह संक्रान्ति पृथ्वी पर ऋतु-परिवर्तन और वसन्त के आगमन की पुरोधा है, इसके कुछ ही दिनों बाद पंचमी का त्योहार पड़ता है।

मकर संक्रान्ति के दिन किसी पवित्र नदी या सरोवर में स्नान तथा दान-पुण्य की विशेष महिमा बतलाई गई है, गंगा-स्नान का तो विशेष माहात्म्य है। आज के दिन सूर्य-नारायण के पूजन का विधान है, क्योंकि संक्रान्ति का सम्बन्ध सूर्य से ही है। स्नानादि के अनन्तर चन्दन से अष्टदल कमल की रचना कर उसमें सूर्य देवता का आह्वान कर यथाविधि अर्चना करनी चाहिए। पूजन के अनन्तर दक्षिणा सहित सब सामग्री दान कर देनी चाहिए। मकर संक्रान्ति के दिन तिल के दान का विशेष विधान है। ऐसी मान्यता है कि इस दिन यदि तिल का दान, तिल का हवन, तिल का अनुलेपन, तिलोदक से स्नान, तिल मिश्रित जल का पान तथा तिल का भोजन किया जाय, तो मकर-संक्रान्ति का पुण्य और भी बढ़ जाता है। इस दिन तिल के बने लड्डुओं के साथ नये चावल और उड़द की 'खिचड़ी' का दान भी किया जाता है, इसलिए मकर संक्रान्ति को लोक-व्यवहार में 'खिचड़ी' का त्योहार भी कहते हैं। ठीक वैसे ही जैसे मेष संक्रान्ति पर सतुए के दान का विशेष महत्व होने के कारण उसे 'सतुआ संक्रान्ति' या 'सतुआन' कहा जाता है। मकर संक्रान्ति पर घृत और कम्बल आदि ऊनी वस्त्रों के दान का भी विधान है।

एक अन्य स्रोत के अनुसार मकर संक्रान्ति के दिन भगवान शंकर के पूजन का भी विधान है। यदि शिवलिंग पर घृत का लेपन कर तिल-पुष्पों और बिल्व-पत्रों से उनकी अर्चना की जाय, तो व्यक्ति के सभी दु:ख-दारिद्र्य दूर हो जाते हैं – ऐसी मान्यता है।

मकर संक्रान्ति के दिन गंगा तथा अन्य नदियों के तट पर मेले लगते हैं, जिनमें अनेक सन्त और विद्वान् अपने उपदेशों और प्रवचनों से आगत भक्तों और जिज्ञासुओं के हृदय में श्रद्धा-भक्ति और ज्ञान का संचार करते हैं। तीर्थराज प्रयाग में तो गंगा-यमुना के संगम पर विश्व का सबसे अद्भुत मेला लगता है। सारे संसार में कहीं भी प्रतिवर्ष इतना बड़ा धार्मिक और आध्यात्मिक समारोह आयोजित नहीं होता, जिसमें देश-विदेश से लाखों लोग आते और कुछ ही देर के लिए सही, अपनी सीमित लौकिक चेतना से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता का संस्पर्श प्राप्त करते हों। 'माघ मेला' के नाम से विख्यात् यह मेला मकर संक्रान्ति से प्रारम्भ होकर महा-शिवरात्रि तक चलता है, जिसमें पौष-पूर्णिमा, संक्रान्ति, मौनी-अमावस्या, वसन्त-पंचमी और माघी पूर्णिमा – ये विशिष्ट स्नान पर्व होते हैं। सूर्य की प्रथम किरण दिखने से लेकर रात देर तक गंगातट पर एक अद्भुत उल्लास और आनन्द की सृष्टि होती है; अध्यात्म के रस का उच्छलन होता है। अनेक श्रद्धालु जन मकर संक्रान्ति से प्रारम्भ कर एक महीने तक गंगातट पर 'कल्पवास' करते हैं तथा भजन पूजन और हरिकथा-श्रवण में समय बिताते हैं।

प्रयाग क्षेत्र में माघमेले की यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। अतीत में अनेक ऋषि-मुनि इस अवसर पर प्रयाग पधारते थे और एक मास तक गंगास्नान कर यज्ञ-हवन और तत्त्वचर्चा में दिन बिताते थे। उस समय गंगा प्रयाग में भरद्वाज मुनि के आश्रम के समीप बहती थीं और उनका आश्रम ही इस सन्त-समागम का केन्द्र होता था। न केवल मनुष्य अपितु देव-गन्धर्व और किन्नर भी आकर गंगा में स्नान करते थे और वेणीमाधव और अक्षयवट की अर्चना करते थे। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरित-मानस' में 'मकर संक्रान्ति' पर होनेवाले इस सन्त-समागम का विस्तार से वर्णन किया है –

माघ मकरगत रबि जब होई।
तीरथ पतिहिं आव सब कोई।।
देव दनुज किन्नर नर प्रेमी।
सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी।।
पूजहिं माधव पद जलजाता।
परसि अखयबटु हरषहिं गाता।।
भरद्वाज आश्रम अति पावन।
परम रम्य मुनिवर मन भावन।।
तहाँ होय मुनि रिषय समाजा।
जाहिं जे मज्जन तीरथराजा।।
मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।
कहहिं परसपर हरि गुनगाहा।।

यह जानने की बात है कि ऋषि याज्ञवल्क्य के द्वारा 'रामकथा' का सर्वप्रथम उपदेश भी इसी अवसर पर हुआ था। महातपस्वी याज्ञवल्क्य माघ मास में गंगास्नान करने प्रयाग पधारे थे। महर्षि भारद्वाज ने उन्हें साग्रह रोककर, उनसे श्रीराम के तात्त्विक रूप के विषय में जिज्ञासा की थी, और श्री याज्ञवल्क्य ने उन्हें रामकथा का उपदेश किया था। इस प्रकार अनादि काल से ही माघ मास में घटनेवाली मकर संक्रान्ति एक ज्ञान-पर्व रहा है, जिसमें स्थूलता से आबद्ध साधारण मनुष्य की चेतना में भी आध्यात्मिक क्रान्ति घटती रही है।

मकर संक्रान्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका स्वरूप जनोत्सव का है। समाज के प्रत्येक वर्ग का सदस्य, चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित, सम्पन्न हो या विपन्न, इसे सरलता से मना सकता है। इस पर्व का कोई विशेष कर्मकाण्ड भी नहीं है। बस, गंगास्नान और अन्नदान की कर्तव्यता है। जिन वस्तुओं का दान किया जाता है, वे नगरों और गाँवों में सहजता से उपलब्ध होती हैं; जैसे तिल, नया चावल, उड़द, गुड़ और मटर की छीमियाँ, जिनसे खेत इन समय भरे होते हैं। तिल के दान का विशेष महत्त्व केवल इसलिए नहीं है कि वह हविष्यान्न है, वरन् इसलिए भी है कि उसकी प्रकृति गरम होती है और शीतऋतु में स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होती है।

नया चावल और नया गुड़ ऋतु की नई चीजें होती हैं। हमारे यहाँ यह मान्यता रही है कि ऋतु की कोई भी नई वस्तु दूसरों को देकर ही ग्रहण करनी चाहिए, इसीलिए गुड़ और चावल के दान का विधान है। अन्नदान सभी दानों में श्रेष्ठ है क्योंकि प्राणिमात्र को भोजन प्रिय होता है। इसके अतिरिक्त दान अनुदारता, संग्रह और परिग्रह की प्रवृत्ति को भी रोकता है, इसी धारणा से प्रत्येक पूजन-अनुष्ठान के अनिवार्य अंग के रूप में दान का विधान अवश्य होता है। मकर संक्रान्ति के दिन तिल और गुड़ के लड्डुओं तथा उड़द और चावल की खिचड़ी का भोजन किया जाता है। ये सारे खाद्य पदार्थ आसानी से सुलभ होते हैं। इस पर्व का आयोजन कोई आर्थिक दबाव नहीं पैदा करता।

वास्तव में, संक्रान्ति पर्व का स्वरूप इस कृषि-प्रधान देश की फसलों, सदानीरा नदियों, ऋतुओं और लोक-संस्कृति से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। यह मकर संक्रान्ति का पर्व जहाँ एक ओर लोगों के हृदय में आस्था और उल्लास की सृष्टि करता है, वहीं दूसरी ओर जीवन की समस्याओं और उलझनों से ध्यान हटाकर जन-मानस को एक उदात्त भावभूमि पर भी प्रतिष्ठित करता है। ❑❑❑

जातिवाद और सन्त-समाज

डॉ. महीप सिंह

इस देश में प्राचीन काल से ही साधना, भक्ति और प्रभु-प्राप्ति की दो समानान्तर धाराएँ चलती रही हैं। एक को शास्त्रमार्गी धारा कहा जाता है, तो दूसरी को लोकमार्गी। शास्त्रमार्गी धारा अपने सभी निर्देश प्रमाणित ग्रन्थों या शास्त्रों से प्राप्त करती है। वह अपने सम्पूर्ण विचार-प्रणाली के लिए शास्त्रों की स्वीकृति और उनका अनुमोदन चाहती है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस विचार को अपनी सम्पूर्ण भक्ति-भावना और काव्य रचना का आधार बनाया था –

श्रुति सम्मत हरिभक्तिपथ संयुत विरति विवेक।

इस कथन में 'श्रुति सम्मत' की बात महत्त्वपूर्ण है। हरि भक्ति का मार्ग विरति और विवेक से संयुक्त हो, इसे तो सभी स्वीकार करेंगे, परन्तु क्या इस मार्ग पर चलने के लिए श्रुति (वेद और धर्मशास्त्र) की मान्यता लेना आवश्यक है? शास्त्र-सम्मत होने का दावा तो वही कर सकता है, जिसने शास्त्रों का अध्ययन किया हो और उसमें आवश्यकता पड़ जाने पर यह सिद्ध करने की पात्रता भी हो कि वह जो कुछ भी कह रहा है वह 'श्रुति-सम्मत' है।

लोकमार्गी धारा इस बात की चिन्ता नहीं करती कि उसकी बात शास्त्रों में कही गई बातों के अनुरूप है या नहीं। इस धारा के साधक और सन्त इस बात का भी दावा नहीं करते कि उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया है। वे तो यह भी कह देते हैं कि हमने कभी कागज, कलम और स्याही को हाथ भी नहीं लगाया। सन्त कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था –

मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहि हाथ।

इन सन्तों को सबसे अधिक भरोसा अपनी अनुभूति पर था जिसे उन्होंने अपनी अनन्य भक्ति तथा गहरी प्रेम भावना के बल से अर्जित किया था। वे कहते हैं कि शास्त्रों का अनुगमन करनेवाले इस बात पर ही मगजपच्ची करते रहते हैं कि शास्त्रों में क्या लिखा है और उसकी व्याख्या क्या है। इनके ज्ञाननेत्र तो पूरी तरह बन्द रहते हैं। सन्त कबीर ने कहा ही था –

तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता आँखिन की देखी।।

शास्त्रमार्गी और लोकमार्गी धारा के अन्तर को समझने के लिए हमें यहाँ की सामाजिक व्यवस्था की पृष्ठभूमि को समझना चाहिए। इस देश की चातुर्वर्ण-व्यवस्था असमानता के सिद्धान्त पर आधारित रही है। इसमें समाज की परिकल्पना सीधी खड़ी लकीर के रूप में की गई, समतल पड़ी लकीर के रूप नहीं। समाजशास्त्री इसे सोपानिक व्यवस्था कहते हैं, जिसमें एक वर्ग सबसे ऊँची सीढ़ी पर खड़ा है और एक वर्ग सबसे नीचे की सीढ़ी पर। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की बाँट भी इसी आधार पर हुई थी। ऊपर की तीन सीढ़ियों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य खड़े हैं, जिन्हें 'सवर्ण' कहा जाता है। नीची की सीढ़ी पर अवर्ण अथवा शूद्र हैं। पूरी सीढ़ी में केवल चार सोपान ही नहीं हैं। सवर्णों में भी छोटे-बड़े के कितने सोपान हैं और शूद्रों में भी शूद्र और अति-शूद्र के अनन्त भेद हैं।

किन्तु समाज संचालन की तीन मुख्य शक्तियों – विद्या, सत्ता और धन पर सवर्णों का वर्चस्व रहा। शूद्र के हिस्से में तो केवल सेवा और अतिसेवा ही आयी। शूद्र जातियों के लिए शास्त्र-अध्ययन तो बहुत दूर, उन्हें नाममात्र की विद्या प्राप्त करने का भी कोई अधिकार नहीं था।

सारी समाज-व्यवस्था में इन्हें बहुत धीरे धीरे कुछ अधिकार प्राप्त हुए। मध्य युग में इन्हें भक्ति का अधिकार तो मिला, किन्तु मन्दिर-प्रवेश का अधिकार नहीं मिला। उसमें केवल इतनी छूट मिली कि वे मन्दिर के बाहर खड़े रहकर कलश के दर्शन कर सकते हैं।

किन्तु इन जातियों में कभी शम्बुक और कभी एकलव्य जैसे व्यक्ति जन्म लेते रहे और व्यवस्था को चुनौती देते हुए दण्ड के भागी बनते रहे। इस व्यवस्था को सबसे बड़ी चुनौती गौतम बुद्ध से मिली। यद्यपि उनका जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था, तथापि उन्होंने समतामूलक समाज व्यवस्था की और अपने चलाये मार्ग में शूद्रों और नारियों को वह स्थान दिया, जो पूर्व व्यवस्था में नहीं था।

भक्ति-क्षेत्र में अवर्ण जातियों के आरम्भिक प्रवेश का श्रेय दक्षिण भारत के अलवार सन्तों को है। इसकी गिनती १२ मानी जाती है। ये सभी समकालीन नहीं थे। इनका समय ईसा की दूसरी सदी से दसवीं सदी तक फैला हुआ है। इनमें एक-दो को छोड़कर शेष सभी अत्यन्त साधारण श्रेणी के भक्त थे। ये पढ़े-लिखे नहीं थे और शूद्र समझी जानेवाली जातियों से आए थे। इनके वचनों को बारहवीं सदी में एकत्र किया गया। 'प्रबन्धम्' नाम के संग्रह को तमिल-वेद कहा जाता है।

इनके पश्चात् दक्षिण भारत में वैष्णवमार्गी आचार्य भक्तों का आगमन हुआ। ये सभी ब्राह्मण थे, किन्तु अलवार सन्तों ने भक्ति का मार्ग सभी सन्तों के लिए खोल दिया था, इसलिए इन आचार्यों ने भी इसे स्वीकार कर लिया। भक्ति की यह लहर जो बारहवीं सदी तक दक्षिण भारत में बहुत लोकप्रिय हो चुकी थी, धीरे धीरे उत्तर की ओर बढ़ी और तेरहवीं-चौदहवीं सदी में महाराष्ट्र व गुजरात से होती हुई पन्द्रहवीं सदी में उत्तर

भारत में आ गई। सन्त कबीर ने इस बात का श्रेय दक्षिण भारत से काशी आए रामानन्द को दिया है और इसके चतुर्दिक प्रचार का श्रेय अपने लिए लिया है –

भकति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद ।
परगट किया कबीर ने सात दीप नवखंड ।।

इस पृष्ठभूमि में सन्त नामदेव की जीवन-दृष्टि पर विचार किया जा सकता है। शूद्रों के लिए भक्ति का अधिकार शास्त्रों में नहीं था, किन्तु लम्बी संघर्ष-यात्रा द्वारा उन्होंने यह अधिकार ले लिया था। यह उस युग की समाज-व्यवस्था में एक बड़ी प्रगतिशील उपलब्धि थी। स्वामी रामानन्द जैसे ब्राह्मण सन्तों का इसे पूरा समर्थन प्राप्त था, किन्तु रूढ़िवादी विचार के लोग इसे स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। इसलिए शूद्र-भक्तों का अपमान होता रहता था। तेरहवीं सदी के महाराष्ट्र के सन्त नामदेव को यह अपमान झेलना पड़ा था। एक बार वे भक्ति-भाव से प्रेरित होकर पंढ़रपुर के ठाकुरद्वारे में चले गए, तो पुरोहितों ने उन्हें धक्के मार कर बाहर निकाल दिया था। इस तिरस्कार की चर्चा उन्होंने अपने एक पद में की है –

हँसत खेलत तेरे देहुरे आया ।
भगति करत नामा पकरि उठाया ।।
हीनड़ी जाति मेरी जादिम राया ।
छीपे के जनमि काहे को आया ।।

– "हे यादवराय कृष्ण, मैं हँसता-खेलता तुम्हारे द्वार पर आया, किन्तु भक्ति में लीन नामदेव को पुरोहितों ने पकड़कर वहाँ से उठा दिया। यह इसलिए हुआ कि मेरी जाति हीन है। हे प्रभो, तुमने मुझे छीपे के घर में जन्म क्यों दिया।"

अपनी जाति के अहसास से मुक्त होने की कामना उस समय के ऐसे सभी भक्तों-सन्तों ने की थी, किन्तु क्रूर व्यवस्था उन्हें बार बार यह स्मरण कराती थी कि तुम क्या हो। किन्तु इन भक्तों को अपनी भक्ति पर पूरा विश्वास था। सन्त नामदेव ने एक पद में कहा था – "मैं जाति-पाति लेकर क्या करूँ। मैं तो दिन-रात राम नाम का जाप करता रहता हूँ" –

कहा करउँ जाती कहा करउँ पाती ।
राम को नाम जपहुँ दिन राती ।।

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा – "प्रभो, तुमने मुझे छीपे के घर में जन्म दिया, किन्तु गुरु के उपदेश से मेरा भला हो गया। सन्तों के प्रसाद से नामदेव की हरि से भेंट हो गई –

छीपै घरि जनमु दैला गुर उपदेसु भैला ।
संतह कै प्रसाद नामा हरि भेंटुला ।।

सभी व्याधियों, रुकावटों, अपमानों के रहते हुए नामदेव जैसे सन्तों ने अपने उत्कट भक्ति-भाव को खण्डित नहीं होने दिया। ऐसे भक्त कवि केवल ईश्वर-प्राप्ति के लिए ही प्रयास नहीं कर रहे थे, वे रूढ़िग्रस्त व बद्धमूल मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष भी कर रहे थे। वे असमानता-मूलक समाज-व्यवस्था को चुनौती दे रहे थे और कम-से-कम भक्ति क्षेत्र में पूरी तरह नकारने का उद्घोष कर रहे थे। उनका भक्ति-भाव किसी ऐसे वैष्णव भक्त से कम नहीं था, जिसे उच्च कहे जानेवाले वर्ण में जन्म लेने मात्र से यह अधिकार प्राप्त हो जाता था। सन्त नामदेव का यह पद इसका एक उदाहरण है –

राम नाम बिनु घड़ी न जीवहुँ ।
भगति करहुँ हरि के गुन गावहुँ ।।
आठ पहर अपना खसम धिआवहुँ ।
सुइने की सुई रूपे का धागा ।
नामे का चित हरि सिउ लागा ।।

सन्त नामदेव तथा परवर्ती निर्गुणमार्गी सन्तों ने ऊँच-नीच की भावना से भरी व्यवस्था के प्रतिनिधि पण्डों, पुरोहितों और पुजारियों को मानते थे। भक्तिमार्ग में इन्हें पूरी तरह नकारते हुए उन्होंने इस पर स्थान स्थान पर कटाक्ष किये हैं। सन्त कबीर और गुरु नानक ने भी इन्हें सम्बोधित करते हुए कितनी ही उक्तियाँ कही थीं। किन्तु एक बात द्रष्टव्य है। इन सन्तों ने जिस पण्डे या पण्डित की आलोचना की है, वह कोई विचारवान, तत्त्वदर्शी, साधना का गुढ़ार्थ समझनेवाला व्यक्ति नहीं था। ऐसे पण्डित के लिए उनके मन में श्रद्धा और सत्कार था। उनकी आलोचना का केन्द्र वह पण्डा-पुरोहित था, जो स्वर्ग नरक का मिथ्या भय दिखाता था, जाति-पाँति, ऊँच-नीच और छुआछूत का अन्धविश्वासी था, तीर्थस्थान, व्रत, पूजा, दान आदि को जिसने कोरा कर्मकाण्ड बना दिया था। ऐसे कर्मकाण्ड में उस समय का हिन्दू समाज पूरी तरह डूबा हुआ था। मुल्लाओं-मौलवियों ने कुछ हद तक ऐसा ही कर्मकाण्ड मुसलमानों में पैदा कर दिया था। एक वर्ग अपने सहज ज्ञान की दोनों आँखें गँवा बैठा था तो दूसरा एक आँख से वंचित हो गया था। इनके लिए सन्त नामदेव ने कहा था –

हिन्दू अन्धा तुरकू काना ।
दोहां से ज्ञानी सयाना ।।
हिन्दू पूजै देहुरा मुसलमान मसीत,
नामे सोई सेविया जह देहरा ना मसीत ।।

सन्त नामदेव जैसे सन्तों ने इस देश की विशाल जनसंख्या को भक्ति के साथ जोड़कर उसे जीवन का ऐसा अर्थ दिया जिससे वे पूरी तरह वंचित थे। सभी शास्त्र उस भाषा में थे जिस तक बहुजन समाज की पहुँच नहीं थी। सारा शास्त्रज्ञान, तत्त्वदर्शन और मोक्षविधान समाज के एक छोटे से वर्ग में सीमित होकर रह गया था। इन सन्तों ने उसे कूप से निकालकर जनसाधारण की निरन्तर बहती हुई सरिता में दिया था। इनकी वाणी जन-जन की वाणी बन गयी। आज भी इस देश के असंख्य लोग इस वाणी को अपना आधार बनाकर जीते हैं और उसमें जीवन का अर्थ ढूँढ़ते हैं। ❑❑❑

हितोपदेश की कथाएँ (१२)

('विग्रह' .अर्थात् युद्ध नामक इस तीसरे भाग से आपने पढ़ा – कर्पूर द्वीप में पद्मकेलि नामक सरोवर में सभी जलचर पक्षियों का राजा हिरण्यगर्भ नामक राजहंस रहता था। दूर देश से लौटा दीर्घमुख नामक बगुले ने आकर उसे प्रणाम किया। राजा के कुशल पूछने पर वह बोला – 'जम्बु द्वीप में विंध्य नामक पर्वत पर पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नाम का मोर रहता है। वहाँ घूमते पाकर उसके अनुचरों ने मुझे पकड़ लिया और उसके पास ले गए। उसने हमारे कर्पूर द्वीप को भी अपने ही राज्य के अन्तर्गत बताया और आपको युद्ध की चुनौती देने के लिए तोते को दूत बनाकर भेजा। तोते द्वारा भेजी गई चुनौती स्वीकार कर ली गई और युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। तोता भी अपने देश लौटा। – सं.)

दूत तोता लौटकर विंध्याचल में अपने राजा चित्रवर्ण (मोर) के पास जा पहुँचा और उसके चरणों में प्रणाम किया।

राजा बोला – "क्या समाचार है? कैसा है वह देश?"

तोते ने कहा – "महाराज! सार समाचार यह है कि अब आप युद्ध की तैयारी कीजिए। कर्पूर द्वीप स्वर्ग के सदृश है और वहाँ का राजा भी दूसरे स्वर्गपति के समान है। उसका वर्णन कैसे किया जाय?"

इसके बाद राजा ने सभी सम्मान्य दरबारियों को बुलाया और विचार करने बैठा। उसने कहा – "अब जो युद्ध होनेवाला है, उसके विषय में आप लोग ठीक ठीक सलाह दें। युद्ध तो अवश्य करना है। कहा भी है –

असन्तुष्टा द्विजा नष्टा, सन्तुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः।

– 'असन्तोषी ब्राह्मण, सन्तुष्ट राजा, लज्जालु वेश्या और निर्लज्ज कुलवधू – ये नष्ट हो जाते हैं।' "

इस पर दूरदर्शी नामक गिद्ध ने कहा – "महाराज! प्रजा आदि के अनुकूल न रहने पर युद्ध करना उचित नहीं। क्योंकि कहा है – 'जब अपने मित्र, मंत्री और सगे-सम्बन्धी पूर्ण अनुरागी हों और शत्रु के मित्र, मंत्री, तथा सगे-सम्बन्धी प्रतिकूल हों, तभी युद्ध करे।' और – 'युद्ध के तीन फल होते हैं – भूमि, मित्र और धन की प्राप्ति। जब इन तीनों का मिलना निश्चित हो, तभी युद्ध छेड़ना चाहिए।

राजा ने कहा – "मंत्रीजी! मेरी सेनाओं को देखिए और इसका उपयोग समझ लीजिए। फिर युद्ध के लिए शुभ मुहूर्त बताने के लिए ज्योतिषी को बुलाइए।"

मंत्री ने कहा – "यह सब होते हुए भी सहसा आक्रमण कर देना उचित नहीं है। क्योंकि – 'जो मूर्ख बिना शत्रु के बल को समझे उसकी सेना में घुस पड़ते हैं, उन्हें निस्सन्देह तलवार की धार का आलिंगन करना पड़ता है।' "

राजा ने कहा – "मन्त्री! तुम मेरा उत्साह भंग न करो। यह बताओ कि जीतने की अभिलाषा रखनेवाला राजा किस प्रकार शत्रु पर आक्रमण करता है।"

गिद्ध बोला – "बताता हूँ, परन्तु इस उपाय को काम में लाने से ही लाभ होगा। कहा भी है – 'शास्त्रों का ज्ञाता होता हुआ भी राजा यदि उनकी सलाह के अनुसार काम न करे, तो उस सलाह से क्या लाभ, वैसे ही जैसे कि केवल किसी औषधि का नाम जान लेने से ही रोग शान्त नहीं हो जाता।' परन्तु राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। अत: मैंने जो कुछ सुना है, वह कहता हूँ। सुनिए –

'हे राजन्, नदी, पर्वत, वन और किला आदि जिन स्थानों में किसी प्रकार का भय हो, सेनापति वहाँ सेना का व्यूह बनाकर जाय – ऐसे नहीं।'

'बड़े योद्धा सैनिकों के साथ सेनापति आगे आगे चलें। बीच में स्त्रियाँ, राजा, धन और निर्बल सेना रहे।'

'दोनों ओर घोड़े, घोड़ों की बगल में रथ, रथ की बगल में हाथी और हाथियों की बगल में पैदल सैनिक रहने चाहिए।'

'इनके पीछे पीछे थके सैनिकों को ढाढ़स बँधाता हुआ सेनानयक स्वयं चले। उसके भी पीछे मंत्रियों, अच्छे योद्धाओं और अपनी सेना के साथ राजा चले।'

'पर्वतीय स्थानों को हाथियों और घोड़ों की सेना के सहारे पार करे, जलवाले स्थानों को नौका से तथा और सभी स्थानों को पैदल सेना के सहारे पार करना चाहिए।'

'यदि वर्षा ऋतु हो तो हाथियों की सेना आवश्यक है। अन्य ऋतुओं में घोड़ों की सेना अवश्य रहनी चाहिए। लेकिन पैदल सेना की आवश्यकता तो सर्वत्र ही रहती है।'

'पर्वतों पर और बीहड़ मार्ग में राजा की रक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध होना चाहिए। राजा को भी चाहिए की सैनिकों द्वारा सुरक्षित रहने पर भी बड़ी हल्की नींद ले।'

'रास्ते में कण्टक जैसे शत्रु के जो किले मिलें, उन्हें हराते या वशीभूत करता चले। दूसरे देश में प्रवेश करना हो तो मार्गदर्शक के रूप में जंगली लोगों को आगे करके चले।'

'जहाँ राजा रहे, वहीं खजाना भी रहे, क्योंकि खजाने के बिना राजा का राजत्व ही नहीं रहता। यदि खजाने से निकालकर सेवकों को भरपूर धन दिया जाय, तो ऐसा कौन है जो अपने उदार राजा की ओर से न लड़े।' क्योंकि –

न नरस्य नरो दासो, दासस्त्वर्थस्य भूपते!
गौरवं लाघवं वाऽपि धनाऽधननिबन्धनम्॥

– 'हे राजा! मनुष्य मनुष्य का दास नहीं, बल्कि धन का दास होता है। सांसारिक बड़प्पन और लघुपन भी तो धनाढ्यता और निर्धनता के ही आधार पर ही टिकी हुई है।'

'सैनिकों को एक दूसरे से मिलकर युद्ध और अपनी रक्षा करनी चाहिए; निर्बल सेना को व्यूह के बीच में रखना चाहिए।

'राजा सेना के आगे पैदल-सेना रखे। शत्रु को चारों ओर से घेरकर छावनी डाल दे और उसके राज्य को पीड़ा पहुँचाए।

'समतल भूमि में रथ तथा घोड़ों से, जलीय स्थान पर नाव तथा हाथियों से, वृक्ष और झाड़ी से युक्त स्थान में धनुष-बाण से और साधारण भूमि में ढाल-तलवार से लड़े।

'शत्रुक्षेत्र की घास, अन्न, पेय जल तथा ईंधन को सतत दूषित करता रहे। तालाबों, दीवारों तथा खाइयों को तोड़ दे।

'सेना में हाथी का प्रमुख स्थान है। क्योंकि वह अपने अंगों (१ सूँड़, १ पूँछ, २ दाँत तथा ४ पैर) से अकेले ही आठ शस्त्रों का काम कर सकता है।

'घोड़े भी सैनिकों के लिए चलती-फिरती दीवारें हैं। इसी कारण अधिक घोड़ोंवाला राजा स्थलयुद्ध में विजयी होता है।

कहा भी है – 'घोड़ों पर सवार होकर लड़नेवाले वीर देवताओं से भी कठिनाई से परास्त हो सकते हैं। क्योंकि दूर रहनेवाले शत्रु भी मानो उसके हाथ में होते हैं।

'युद्ध में पैदल सेना का पहला काम है, युद्ध करना, पूरी सेना की रक्षा करना और सभी ओर के मार्गों को साफ करना।

'स्वभाव से वीर, अस्त्रविद्या में निपुण, परिश्रमी, उत्साहयुक्त तथा विख्यात क्षत्रियों से भरपूर सेना श्रेष्ठ मानी जाती है।

'संसार में लोग अपने राजा से सम्मानित हो जैसे उत्साह से लड़ते हैं, वैसा बहुत-सा धन देने से भी नहीं लड़ते।

'केवल सिर गिनाने वालों से युक्त बड़ी सेना की जगह छोटी सेना भी ठीक है, क्योंकि कायरों के हिम्मत हार जाने पर बहादुर सैनिक भी हताश हो जाते हैं।

'सैनिकों को पुरस्कृत न करना, अच्छे सेनापति की कमी, प्रदत्त धन छीन लेना, टाल-मटोल करना और किसी तरह का उद्योग न करना – ये सैनिकों के उदासीन होने के कारण हैं।

'विजय की अभिलाषा रखनेवाले राजा को चाहिए कि वह थोड़ी थोड़ी दूर चलकर ही, बिना अपनी सेना को कष्ट पहुँचाए शत्रु की सेना पर चढ़ाई करे। लम्बी यात्रा करके आई हुई शत्रु की थकी सेना आसानी से परास्त हो जाती है।

'शत्रु के हिस्सेदारों को फोड़ लेने के समान भेद करनेवाला कोई दूसरा उपाय नहीं है। अत: यत्न करके उसके हिस्सेदारों को भड़काए।

'शत्रु के युवराज या प्रधानमंत्री के साथ गुप्त सन्धि करके सुदृढ़ स्थिति वाले शत्रु राजा के घर में ही विद्रोह करा दे।

'दुष्ट शत्रु को युद्ध में परास्त करके मार डाले और नष्ट कर दे। और उसके प्रमुख सम्बन्धियों को भी नष्ट कर दे।

'शत्रु-देश के लोगों को अपने राज्य में लाकर बसाए, क्योंकि दान-मान से बसायी हुई प्रजा से धनप्राप्ति होती है।'

"बहुत कहने से क्या लाभ? – 'अपनी उन्नति और शत्रु का विनाश, बस ये ही दो नीतियाँ हैं। इन्हें अपनाकर काम करनेवाला राजा वाचस्पति के सदृश विज्ञ दीखने लगता है।"

राजा ने हँसकर कहा – "यह सब तो ठीक है, लेकिन – 'किसी भी मर्यादा में न रहनेवाला पराक्रम एक होता है और शास्त्र द्वारा नियंत्रित बल अलग ही होता है। प्रकाश तथा अन्धकार का मेल भला कैसे हो सकता है!' "

इसके बाद राजा ने ज्योतिषी के बताए मुहूर्त के अनुसार प्रस्थान कर दिया।

उधर पहले ही भेजे गुप्तचर ने जाकर राजा हिरण्यगर्भ (हंस) को सूचना दी – "प्रभो! अब राजा चित्रवर्ण (मोर) आ ही गया है। इस समय वह मलय पर्वत की तलहटी में पड़ाव डाले हुए है। अब प्रतिक्षण किले की चौकसी रखनी चाहिए। क्योंकि गृध्र उसका मंत्री है। किसी विश्वासपात्र के साथ बातचीत के समय उसकी बातों से पता चला है कि हमारे किले में पहले ही से उसका कोई गुप्तचर नियुक्त है।"

चकवा बोला – "स्वामी! वह कौआ ही हो सकता है।"

राजा ने कहा – "यह कभी नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो वह तोते को मारने के लिए क्यों तैयार हो जाता? फिर तोते के आने से उसका युद्ध सम्बन्धी उत्साह और बढ़ गया है। उसे यहाँ रहते हुए काफी समय भी हो गया है।"

मंत्री ने कहा – "तो भी आगन्तुक से सचेत रहना चाहिए।"

राजा बोला – "कभी कभी आगन्तुक बड़े उपकारी सिद्ध हुए हैं। सुनो –

परोऽपि हितबन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम्॥

– 'भला चाहने वाला पराया भी अपना मित्र और बुरा चाहने वाला भाई भी शत्रु होता है। अपने ही शरीर से उत्पन्न रोग अपना अहित करता है और वन की दवा उपकार करती है।'

और भी – 'राजा शूद्रक के यहाँ वीरवर नाम का एक सेवक था, जिसने थोड़े ही समय में राजा की भलाई के लिए अपने पुत्र तक को दे डाला था।'

चकवे ने पूछा – "वह कैसे?" राजा कहने लगा –

कथा ७

"आज के बहुत दिनों पहले राजा शुद्रक के क्रीड़ा-सरोवर की निवासी कर्पूरकेलि नामक राजहंसी की पुत्री कर्पूरमंजरी से मेरा प्रेम हो गया था। वहाँ कहीं से वीरवर नाम का एक राजकुमार राजद्वार पर आकर द्वारपाल से बोला – 'मैं नौकरी करने की इच्छा से आया हुआ एक राजकुमार हूँ। मुझे राजा

के पास ले चलो।'' उसने राजकुमार को महाराज के पास पहुँचा दिया। राजपुत्र बोला – ''महाराज! यदि आप मुझे नौकरी पर रखना चाहें, तो वेतन निर्धारित कर लीजिए।'' राजा शुद्रक ने पूछा – ''तुम्हारा वेतन क्या होगा?'' वह बोला – ''प्रतिदिन पाँच सौ स्वर्णमुद्राएँ।'' राजा ने पूछा – ''तुम्हारे पास सेवा के क्या साधन हैं?'' वीरवर ने कहा – ''दो भुजाएँ और तीसरी तलवार।'' इस पर राजा बोला – 'इतना वेतन तो तुम्हें नहीं दिया जा सकता।'' यह सुनकर वीरवर वहाँ से चल पड़ा। तभी मंत्रियों ने कहा – ''महाराज! चार दिन इसे रख कर देखिए कि यह इतना वेतन उचित रूप से लेता है या कि अनुचित रूप से।'' मंत्रियों के कहने से राजा ने उसे बुलाया और पान का बीड़ा देकर पाँच सौ स्वर्णमुद्राएँ दिला दीं और गुप्त रूप से यह भी जानने का उपाय कर लिया कि यह इतना धन लेकर क्या करता है।

वीरवर ने उसमें से आधा धन देवताओं और ब्राह्मणों को दान दे दिया। जो आधा बचा था उसमें से आधा दीन-दुखियों को दे दिया। शेष बचे धन को भोजन तथा विलास में खर्च किया। यह सब नित्यकृत्य करने के बाद वह रात-दिन हाथ में तलवार लिए राजद्वार पर डटकर खड़ा रहता था। यहाँ तक कि जब राजा स्वयं कहता तभी अपने घर जाता।

एक दिन कृष्ण-चतुर्दशी की आधी रात के समय राजा ने किसी के रोने की ध्वनि सुनी। शूद्रक ने पूछा – 'द्वार पर कौन है?' उसने कहा – 'महाराज! मैं वीरवर हूँ। राजा ने कहा – 'देखो तो रोने की ध्वनि कहाँ से आ रही है।' वीरवर – 'जो आज्ञा' – कहकर चल पड़ा। राजा ने सोचा – 'मैंने यह ठीक नहीं किया, जो राजकुमार को घने अन्धकार में अकेले भेज दिया। लाओ, हम भी उसके पीछे पीछे जाकर देखें कि क्या बात है।' बस, राजा भी तलवार लिए वीरवर के पीछे पीछे चलता हुआ नगर के बाहर हो गया। वीरवर ने आगे जाकर सभी आभूषणों से लदी एक रूप-यौवन-सम्पन्न स्त्री को रोते हुए देखा। उसने पूछा – 'तुम कौन हो? और क्यों रोती हो?' स्त्री बोली – 'मैं राजा शूद्रक की राजलक्ष्मी हूँ। इस राजा की भुजाओं की छायातले मैं बहुत दिनों बड़े आनन्द के साथ रही। अब अन्यत्र जा रही हूँ।' वीरवर बोला – 'जहाँ बाधा है, वहीं उसके प्रतिकार का उपाय भी रहता है। तो आप किस उपाय से यहाँ रह सकती हैं?' लक्ष्मी ने कहा – 'यदि तुम बत्तीस शुभ लक्षणों से युक्त अपने पुत्र शक्तिधर को भगवती सर्वमंगला के लिए भेंट चढ़ा दो, तो मैं बहुत दिनों तक यहाँ रह सकूँगी।' यह कहकर वह स्त्री अदृश्य हो गयी।

अब वीरवर अपने घर गया। वहाँ सोती हुई स्त्री और बच्चे को जगाया। वे दोनों उठ बैठे। वीरवर ने लक्ष्मी की कही सब बात बता दी। यह सुनकर शक्तिधर बोला – 'मैं धन्य हूँ कि जो अपने स्वामी की राज्यरक्षा के निमित्त मेरा शरीर काम आ रहा है। तो अब आप देर क्यों कर रहे हैं। ऐसे कामों में शरीर का उपयोग होना सौभाग्य की बात है। क्योंकि –

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
तन्निमित्तो वरं त्यागो, विनाशे नियते सति ।।

– 'बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह अपना धन और जीवन परोपकार में लगा दे। क्योंकि जब एक दिन इनका विनाश निश्चित है, तो इनका किसी के काम आ जाना ही अच्छा है।'

शक्तिधर की माँ ने कहा – 'यदि यह काम नहीं करोगे तो फिर किस कार्य से इतने लम्बे वेतन का बदला चुकाओगे?' ऐसा विचार करके वे सब भगवती सर्वमंगला के मन्दिर को गए। वहाँ सर्वमंगला की पूजा करके वीरवर ने कहा – 'देवि! तुम प्रसन्न होओ। महाराज शूद्रक की जय हो – जय हो। यह उपहार स्वीकार करो।' यह कहकर उसने अपने पुत्र का सिर काट डाला। इसके बाद वीरवर ने सोचा – 'राजा से जो धन लिया था, वह ऋण तो चुका दिया। अब पुत्रहीन होकर जीना व्यर्थ है।' यह विचार करके उसने अपना भी सिर काट डाला। पति और पुत्र के शोक से आकुल स्त्री ने भी वही किया। यह सब घटना देखकर राजा ने विस्मय के साथ सोचा – 'हमारे जैसे क्षुद्र प्राणी तो न जाने कितने पैदा होते और मर जाते हैं, पर इस वीर के समान न कोई हुआ है और न होगा। अत: इसे छोड़ मैं राज्य लेकर क्या करूँगा।' बस, शूद्रक ने भी अपना सिर काटने के लिए तलवार उठा ली।

तभी भगवती सर्वमंगला प्रकट हो गयीं। उन्होंने राजा का हाथ पकड़ लिया और कहा – 'पुत्र! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। इतना साहस करने की जरूरत नहीं। अब जन्म भर तुम्हारा राज्य अचल-अटल बना रहेगा।' राजा ने साष्टांग प्रणाम करके कहा – 'देवि! मुझे राज्य या जीवन से क्या काम? यदि मुझ पर आपकी कृपा हो तो मेरी शेष आयु से यह वीरवर, इसकी स्त्री और बेटा जीवित हो जायँ। नहीं तो मैं भी इन्हीं के समान अपना शरीर त्याग दूँगा।' भगवती ने कहा – 'पुत्र! तुम्हारी आत्मा का बल और सेवक पर कृपा देखकर मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। जाओ, तुम विजयी होओ और यह वीरवर भी अपने परिवार के साथ जीवित हो जाय।' यह कहकर देवी अन्तर्धान हो गयीं। इसके बाद वीरवर स्त्री और पुत्र समेत अपने घर गया और राजा भी चुपके से अपने महल में प्रविष्ट हो गया।

प्रात:काल राजा ने द्वार पर जाकर वीरवर से रात का वृत्तान्त पूछा। वीरवर ने कहा – 'महाराज! वह रोती हुई स्त्री हमको देखकर अदृश्य हो गयी। इसके सिवाय और कोई बात नहीं है।'

उसकी बातें सुनकर राजा ने सोचा – 'ओह! यह कितना प्रशंसनीय और महान् व्यक्ति है। क्योंकि –

प्रियं ब्रुयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः ।
दाता नापात्र वर्षी च प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः ।।

– 'उदार को मीठी वाणी बोलनी चाहिए। वीर को चाहिए कि वह डींग न हाँके। दाता अपात्र को दान न दे और तेजस्वी को निष्ठुर नहीं होना चाहिए।' महापुरुष के ये सभी लक्षण वीरवर में विद्यमान हैं।''

इसके बाद प्रातःकाल राजा ने विशिष्ट व्यक्तियों की एक सभा की और रात की सारी बातें बताकर राजपुत्र वीरवर को कर्नाटक देश का राज्य दे दिया। तो क्या आगन्तुक को जाति मात्र से दुष्ट मान लिया जाय? उनमें भी उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार के आगन्तुक होते हैं। चकवा बोला –

योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किंमन्त्री नृपेक्षया ।
वरं स्वामिमनोदुःखं तन्नाशो न त्वकार्यतः ।।

– 'जो मंत्री राजा का विचार देख अकार्य को भी कार्य बताकर समर्थन करता है, वह दुष्ट है। स्वामी के मन को दुःख हो, तो भी उसे ऐसी सलाह दे जिससे वह अकार्य करके नष्ट न हो।'

वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञो प्रियः सदा ।
शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ।।

– 'जिस राजा को – वैद्य, गुरु और मंत्री – ये तीन प्रिय होते हैं, उसके शरीर, धर्म और खजाना शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।'

''सुनिए महाराज! एक ने जिस उपाय से लाभ उठाया है, उसी से मुझे भी लाभ होगा – इस विचार से एक धनलोलुप नाई ने एक भिक्षुक को मार डाला और स्वयं भी मारा गया।

राजा ने पूछा – ''यह कैसे?'' चकवा कहने लगा –

कथा ८.

अयोध्या में चूडामणि नाम का एक क्षत्रिय रहता था। धन की इच्छा से उसने बहुत दिनों तक शिव की आराधना की। पाप क्षीण हो जाने पर शिवजी की आज्ञा से कुबेर ने उसे स्वप्न में दर्शन देकर कहा – ''आज सबेरे तुम केश छँटवाकर, हाथ में लाठी लिए घर में छिपकर बैठो रहो। थोड़ी देर बाद तुम्हारे आँगन में एक भिक्षुक आएगा। उसे तुम निष्ठुर होकर लाठी से मार डालना। बस, वह स्वर्ण का कलश बन जाएगा। इससे तुम जीवन भर के लिए सुखी हो जाओगे।'' क्षत्रिय ने वैसा ही किया और जैसा कि कुबेर ने कहा था। सब कुछ वैसा ही हुआ। वहाँ बाल बनाने के लिए आए हुए नाई ने यह हाल देखकर सोचा – 'वाह! धन पाने का यह अच्छा उपाय है। मैं भी क्यों न यही करूँ?' तभी से वह रोज लाठी लिए घर में छिपा हुआ किसी भिक्षुक की प्रतीक्षा करता। एक दिन उसे एक भिक्षुक मिला और उसने उसे मार डाला। इस अपराध से राजा के अधिकारियों ने उसे भी मार डाला। इसी से मैं कहता हूँ – 'एक ने जिस उपाय से लाभ उठाया ...' आदि।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-षटकम्

रवीन्द्रनाथ गुरु

मुक्त-वायु-समोऽसि त्वं व्यापकोऽब्धिरिवातलः।
अग्निवच्चैव तेजस्वी भावोत्तुङ्गहिमाचलः ।।

– हे विवेकानन्द! आप मुक्त वायु की भाँति सर्वव्यापी हैं, समुद्र के समान अतल या गम्भीर हैं, अग्नि के सदृश तेजस्वी वीर हैं और भावों की दृष्टि से उत्तुङ्ग हिमालय पर्वत हैं।

समत्वे बुद्धवत् कर्मी निष्कामी कृष्णचन्द्रवत् ।
प्रज्ञायां शङ्करो रामो मर्यादापालने भवान् ।।

– आप समता में बुद्ध के सदृश हैं, निष्काम कर्मयोग में श्रीकृष्ण के समान हैं। मेधा या ज्ञान में श्री शङ्कराचार्य हैं और मर्यादा के परिपालन में श्रीराम की भाँति हैं।

ध्वान्तपूर्ण जगत्प्राण ज्योतिर्दूत नमोऽस्तुते ।
प्रज्ञाधामन् पराधीन भारतोद्धारकाय ते ।।

– हे अन्धकारमय विश्व के प्राण-स्वरूप ज्योतिदूत! आपको प्रणाम है। हे ज्ञान के आगार! हे पराधीन भारत के उद्धारक! आपको प्रणाम है।

त्वद्वत्कोऽत्र समुद्भूतः जनादर्शललाम हे ।
कोटिकृत्वो नमस्तुभ्यं सच्चिदानन्दप्रेरकः ।।

– हे जनगण के ललाम आदर्श! इस जगत् में आप के जैसा भला कौन हुआ है? हे सच्चितसुख के प्रेरक! आपको मेरे शतकोटि प्रणाम हैं।

सद्बुद्धिद ! नमस्तुभ्यं जगत्सन्मार्गदर्शक ।
मानवानां भेदभाव-कुसंस्कार-विनाशक ।।

– हे सद्बुद्धि-दायक! हे जगत् को सन्मार्ग दिखानेवाले! हे मनुष्यों के बीच फैली आपसी भेद-भावना तथा अन्धविश्वासों के पूर्ण विनाशक! आपको मेरा प्रणाम है।

कोटिकृत्वो नमस्तुभ्यं ब्रह्मभावप्रदीपक ।
नमस्ते 'धर्म'-शब्दस्य नवीनपरिभाषक ।।

– हे ब्रह्मभाव की अलख जगानेवाले राष्ट्रदीप! आपको कोटि कोटि प्रणाम! हे 'धर्म' शब्द को नवीन परिभाषा प्रदान करनेवाले स्वामीजी! आपको शतकोटि प्रणाम!

समदृष्टित्व का गुण

स्वामी आत्मानन्द

भारत की सांस्कृतिक परम्परा में समदर्शित्व का गुण सबसे ऊँचा माना गया है। उसके अनुसार जीवन का लक्ष्य ही वह है, जहाँ व्यक्ति सारे भेदभावों से ऊपर उठकर समदर्शी हो जाता है। भारतीय दर्शन तीन प्रकार के भेद स्वीकार करता है – जातिगत, गुणगत और स्वगत। जातिगत भेद वह है, जो मनुष्य को पशु-पक्षी आदि इतर जातियों में भिन्न करता है। गुणगत भेद, शरीर और मानसिक प्रकृति की भिन्नता से, मनुष्य और मनुष्य में अन्तर स्थापित करता है। स्वागत भेद उसे कहते हैं, जिसके कारण मनुष्य अपने ही विभिन्न अंगों में पार्थक्य का अनुभव करता है। समदर्शन का तात्पर्य यह नहीं है कि ये भेद विलुप्त हो जाएँगे, प्रत्युत यह कि ये भेद ऊपरी दृष्टि से दिखायी देते हुए भी अन्याय, पक्षपात और उत्पीड़न के कारण नहीं बनेंगे। हम अन्याय और पक्षपात इसलिए करते हैं कि हममें अपने और पराये की भावना बड़ी तीव्र है। इस भावना का आधार शरीर है। जब तक हमारा दर्शन देह-केन्द्रित है, तब तक समाज के क्षेत्र में जाति के भेद को लेकर उत्पीड़न की प्रक्रिया चलती रहेगी। इसी प्रकार, जब तक हमारा दर्शन मन-केन्द्रित है, तब तक धर्म के भेद को लेकर संघर्ष चलता रहेगा। पर जिस समय हम देह और मन दोनों को अपने दर्शन का आधार बना, आत्मा को उसका आधार बनाते हैं, तो हम देहगत और मनोगत भेदों से ऊपर उठ जाते हैं, और यही समदृष्टित्व की स्थिति है। इसी दृष्टि से श्रीमद्-भगवद्-गीता के पाँचवें अध्याय के १८वें श्लोक में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं – '**पण्डिताः समदर्शिनः**' – अर्थात् जो पण्डित हैं, वे समदर्शी होते हैं। 'पण्डित' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं – '**पण्डा – आत्मविषया बुद्धिः येषां ते हि पण्डिताः**' – अर्थात् आत्मविषयक बुद्धि का नाम पण्डा है और वह बुद्धि जिनमें है, वे पण्डित हैं।

यह आत्मविषयक बुद्धि ही अपने और पराये के भेद को कम करती है। समाज में ऐसी आत्मविषयक बुद्धि से सम्पन्न व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होगी, जाति और धर्म पर आधारित संघर्ष उतने कम होंगे। भारतीय संस्कृति अपने धर्म और अध्यात्म के उपदेश द्वारा इस 'स्व' और 'पर' के भेद को समाप्त करने का लक्ष्य रखती है। उसके आदर्श को व्यक्त करनेवाला एक श्लोक बड़ा प्रसिद्ध है –

अयं मम परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

– 'यह मेरा और वह उसका' – ऐसी भावना क्षुद्र बुद्धिवालों की होती है, पर जो उदार बुद्धिवाले होते हैं, उनके लिए तो सारी वसुधा ही कुटुम्ब के समान है।

यह समदृष्टित्व दो गुणों की अपेक्षा रखता है। पहला तो यह मानने के लिए तैयार रहना कि मेरा दृष्टिकोण गलत भी हो सकता है और दूसरा यह कि दूसरे का दृष्टिकोण सही हो सकता है। अपने दोषों तथा दूसरों के गुणों को स्वीकार करने की पात्रता ही समदृष्टित्व पर पहुँचने का सक्षम सोपान है।

जिज्ञासुओं ने श्रीरामकृष्ण परमहंस से पूछा, "महाराज, आपने समस्त धर्मों की साधनाओं में सिद्ध होकर यह प्रमाणित कर दिया है कि सारे धर्मों का लक्ष्य एक ही है तथा ये सब धर्म उसी एक लक्ष्य पर पहुँचने के भिन्न-भिन्न रास्ते हैं, तथापि धर्मों के झगड़े देखने में आते हैं। ऐसा क्यों?" इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामकृष्ण देव ने एक चुटकुला सुनाया –

एक व्यक्ति शौच के लिए जंगल की ओर गया था। लौटते समय उसने एक वृक्ष पर हरे रंग का प्राणी देखा। विचारों की उधेड़-बुन में खोया हुआ वह चला जा रहा था कि सहसा किसी की आवाज उसके कानों में पड़ी। चौंककर देखा, सामने उसका मित्र खड़ा है। "क्यों, क्या बात है? बड़े डूबे हुए लग रहे हो?" – मित्र ने हँसते हुए पूछा। – "कुछ नहीं, भाई! तुम अपनी बताओ।" वार्तालाप आगे बढ़ी। प्रथम व्यक्ति कहता है, "मैं अभी शौच से लौट रहा हूँ। आते समय एक वृक्ष पर मैंने हरे रंग का प्राणी देखा।" "किस वृक्ष पर?" – मित्र उत्सुक होकर पूछता है। – "अरे, उसी वृक्ष पर, जो उस बड़े तालाब के किनारे है, जिसके नीचे एक महात्माजी धूनी रमाये बैठे रहते हैं।" – "मैंने भी तो कुछ समय पूर्व उस पर वैसा ही एक प्राणी देखा था, जैसा तुम बता रहे हो," मित्र कहता है, "पर वह हरे रग का तो नहीं था। वह तो लाल था।" – "नहीं, मैं तो अभी देखकर आ रहा हूँ।" उस प्रथम व्यक्ति ने कहा, "वह लाल नहीं हरा है।" मित्र ने अपनी बात पर जोर देते हुए कहा, "नहीं, नहीं, वह लाल है। शायद पत्तों के कारण तुम्हें हरा दीख पड़ा होगा। वास्तव में वह लाल है। तुमने गलत देखा है।"

भला कौन स्वीकार करेगा कि उसका देखा हुआ गलत है? प्रथम व्यक्ति क्रुद्ध हो उठता है, "हाँ, हाँ, मैंने अभी देखा तो गलत देखा, और तुम्हें देखे जमाना बीत गया, पर तुमने सही देखा! लबार कहीं के!" अब क्या था, खासी लड़ाई

मच गयी कि इतने में उधर से कोई व्यक्ति निकला। "क्या बात है? क्यों इस तरह लड़ रहे हो?" – उस तीसरे व्यक्ति ने पूछा। कारण सुनकर उसने कहा, "तुम दोनों गलत कह रहे हो। मैंने भी उस वृक्ष पर के प्राणी को देखा है। वह न हरा है, न लाल, वह तो पीला है।" अब क्या था, दो की लड़ाई में यह तीसरा भी कूद पड़ा। और जब जबानें इस प्रकार लड़ने लगीं, तो हाथ-पैरों ने सोचा कि हमने क्या ऐसा दोष किया, जो चुप रहें। फिर क्या था, कुरुक्षेत्र का दृश्य दिखने लगा। गुत्थम-गुत्थी में पहले व्यक्ति को जो घूँसा लगा, तो उसे तारे नजर आने लगे। सिर थामकर वह वहीं बैठ गया। कुछ देर बाद उसकी बुद्धि ठिकाने आयी, तो कहने लगा, "मार-पीट में भला क्या रखा है? चलो चलकर देख ही लें न उस प्राणी को। आँखों देखे का क्या झगड़ा?" इस प्रस्ताव से अन्य दोनों भी सहमत हुए और तीनों जोर-शोर से बहस करते हुए उस वृक्ष की ओर चल पड़े।

वे वृक्ष के समीप पहुँचे। वृक्ष के नीचे महात्माजी धूनी लगाये बैठे थे। उन तीनों को जोरों से बहस करते देख उन्होंने पूछा, "क्या बात है? क्यों इस प्रकार लड़ रहे हो?" कारण सुनकर महात्माजी ने कहा, "देखो, लड़ो मत। मैं फैसला किये देता हूँ। मैं तो सदैव इस वृक्ष के नीचे रहता हूँ। मैंने सभी अवस्थाओं में उस प्राणी को देखा है। बोलो, मेरा फैसला मानोगे तो?" "अवश्य महाराज, इसलिए तो हम यहाँ आये है" – तीनों एक साथ कह उठे। तब महात्माजी ने फैसला देते हुए कहा – "तुम तीनों सही कहते हो और तुम तीनों गलत कहते हो!" सुनकर तीनों भौचक्के रह गये। यह कैसा फैसला है! यह तो मजाक है! तीनों को अपनी बात न समझते देख महात्माजी पुनः बोले, "बात यह है कि जिस प्राणी को तुमने इस वृक्ष पर देखा है, वह है गिरगिट। वह हरदम अपना रंग बदलता रहता है। कभी उसका रंग हरा रहता है, तो कभी लाल और कभी पीला। कभी वह स्याह हो जाता है, और कभी-कभी तो देखता हूँ कि उसका कोई रंग नहीं रहता। इसीलिए मैंने तुम लोगों से कहा कि तुम तीनों सही कहते हो और तुम तीनों गलत कहते हो।" फिर महात्माजी ने प्रथम व्यक्ति की ओर मुड़कर कहा, "देखो, जब तुम उस प्राणी को हरे रंग का कहते हो, तो बिलकुल सही बात कहते हो, पर जब कहते हो कि वह केवल हरे रंग का है, तब गलत कहते हो।" इसी प्रकार महात्माजी ने शेष दोनों व्यक्तियों को भी समझा दिया।

श्रीरामकृष्ण यह कहानी सुनाकर कहते थे कि धर्मों के झगड़े वास्तव में दृष्टि की अपूर्णता के कारण होते हैं। ईश्वर अनन्त भावमय है। उसके अनन्त रूप हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका ईश्वर अलग है। वह अपनी बुद्धि लेकर ईश्वर की थाह पाने जाता है, उसे नापना चाहता है। उसे कुछ दर्शन हुआ कि बस, वह उसी को एकमात्र सत्य समझ लेता है। सोचता है कि दूसरे लोग ईश्वर का जो रूप बतलाते हैं, वह सब मिथ्या है। एक ओर मनुष्य ईश्वर को असीम और अनन्त कहता है और दूसरी ओर उसे अपनी बुद्धि के तंग दायरे में सीमित भी कर देना चाहता है। मानव-बुद्धि की यह कैसी विडम्बना है! इसी को संकीर्णता कहते हैं। यही धर्मान्धता है। इसी से झगड़ों की उत्पत्ति होती है। पर जिसने ईश्वर को सभी रूपों में देखा है, जिसने वृक्ष के नीचे रहकर उस प्राणी को सभी अवस्थाओं में देखा है, उसी ने यथार्थ में देखा है। उसी की बुद्धि पण्डा है और वही सचमुच में पण्डित है, वह जान लेता है कि –

रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजु-कुटिल-नानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

– जैसे नदियाँ विभिन्न उद्गम स्थानों से निकलकर, सीधे या टेढ़े-मेढ़े रास्तों से बहती हुई अन्त में एक ही सागर में समा जाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य अपनी प्रवृत्ति की भिन्नता के कारण भले ही सीधे या टेढ़े-मेढ़े मार्गों का अवलम्बन करें, रुचि के अनुसार अलग-अलग धर्मों का सहारा लेकर चलें, पर अन्त में सब उसी एक ईश्वर में समाहित हो जाते हैं।

(आकाशवाणी, जयपुर से २२-९-१९७७ को प्रसारित)

मानवता की झाँकी (४)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओं को हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

डाकू भी पथ-प्रदर्शक बना

काठियावाड़ – वर्तमान सौराष्ट्र की बात है। शीत ऋतु – जोरों की ठण्ड पड़ रही थी, उस साल खास शीतलहर चल रही थी। परिव्राजक संन्यासी काठियावाड़ प्रदेश का भ्रमण कर रहा था। काठी राज्य बावरा से आगे चलकर एक छोटा-सा गाँव है, उस गाँव में पूछने पर उन्होंने एक छोटा पथ (short-cut) बताया, जो जंगल में से होकर घेला सोमनाथ जाता है। वही रम्य स्थल ऐतिहासिक घेला सोमनाथ गन्तव्य था। कहते हैं कि जब महमूद गजनवी ने अन्तिम बार सोमनाथ लूटा, तो कुछ पुजारी भागकर इस जंगल में आ बसे थे, बाद में जसदन दरबार ने सोमनाथ मन्दिर की स्थापना की, पर 'घेला' क्यों? इस विषय में मतभेद है, जिसकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

जाड़ों में दिन जल्दी ढलता है। देखते-ही-देखते संध्या हो गई, पर चाँदनी थी, भयंकर गम्भीर अरण्य ! जन-मानव का चिह्न तक नहीं – न कोई गाँव न बस्ती। संन्यासी रास्ता भूल गया था। वनपथ में चिन्तित मन के साथ आगे बढ़ रहा था। प्यास लगी थी, पर पानी कहाँ ! चलते चलते वह विचार कर रहा था – यदि कहीं पानी मिल जाय, तो वहीं रात्रिवास कर लेगा। पास में दियासलाई तो थी ही और जंगल में सूखी लकड़ियाँ-पत्ते बहुत थे, बस आग जलाकर रात गुजार लेगा।

रात काफी हो गयी थी – सब सूनसान, वन्य पशुओं की आवाज भी नहीं, सर्वत्र गम्भीर नि:स्तब्धता थी। ... मालूम हुआ कि कोई आदमी आ रहा है। बड़ा अच्छा हुआ, तब तो गाँव भी नजदीक ही होना चाहिए। ... एक छह फुट ऊँचा तगड़ा आदमी, सिर पर कठियावाड़ी भारी पगड़ी और हाथ में बन्दूक, आ रहा है सामने से ! संन्यासी को दूर से देखकर उसने पूछा, "कौन छे ! (कौन है?)" प्रत्युत्तर में संन्यासी ने भी सीधे पूछा – "तमे कौन छो? (तुम कौन हो?)" ... बस उसने तुरन्त बन्दूक तान दी। संन्यासी समझ गया कि भूल हो गयी है, सीधे वैसा पूछना मानो चुनौती देना होता है। अब क्या करे? वह डरा तो सही, पर एक युक्ति चालू रखी, "अरे भाई ! नजदीक कहीं पानी है क्या? पानी?" ऐसा जोर से कहता गया और उसकी तरफ आहिस्ते कदम के साथ चलता रहा। जब उसने देखा – भगवा वस्त्र है और सिवाय एक मामूली छड़ी के, हाथ में कोई अस्त्र भी नहीं है, तब बन्दूक नीचे रख दी ! संन्यासी ने कहा – "भाई, पास में कोई गाँव है क्या? प्यास लगी है, पानी चाहिए और रात ठहरना भी है।"

"नहीं, पास कोई गाँव नहीं है, करीब एक मील पर किसानों की एक छोटी-सी बस्ती है, पानी भी वहीं पर है, पर इधर कहाँ जा रहे हो?"

"घेला सोमनाथ जाना है, ऐसा लोगों ने कहा कि इस रास्ते से नजदीक पड़ेगा, तो इधर से चला था, पर ..."

"हाँ, रास्ता भूलकर आये हो, इधर तो घोर जंगल ही जंगल है। किसानों के उस गाँव से जसदन नजदीक ही है, फिर वहाँ से घेला सोमनाथ पास ही पड़ेगा। यह पगडंडी पकड़ कर चले जाओ, बस गाँव मिल जायेगा।"

"पर भाई, अनजान आदमी हूँ, फिर अगर इधर उधर चला गया, तो परेशान ही होना पड़ेगा ..., अगर मेहरबानी करके तुम्हीं पगडंडी से पहुँचा दो, तो आभार मानूँगा।" कुछ देर तक उसने चुप रहकर विचार किया, फिर कहा, "चलो !" और संन्यासी को आगे रखकर पीछे बन्दूक सावधानी से पकड़ रक्खी और रास्ता बताता हुआ चला। गाँव के पास ही छोटी-सी पहाड़ी नदी थी, जिसमें झर झर पानी बह रहा था। उसने कहा – "वह है गाँव, पानी पीकर गाँव के चौराहे पर, अतिथि-शाला में जाकर ठहरना, बाहर डर है।"

"पर भाई, अनजाना आदमी और रात का समय ! कौन बताएगा कि अतिथि-शाला कहाँ है? सब सो रहे हैं, निद्रामग्न हैं। ...और कुत्ते भी तो फाड़ खाएँगे।" उसने फिर थोड़ी देर विचार किया, बोला, "गाँव में तो मैं नहीं जाऊँगा, आप बाहर बाहर चले जाओ। बाबरा दरबार के मामाजी फसल लेने को आए हैं। खलिहान में ठहरे हैं, बन्दोबस्त कर देंगे।" और राम राम कहकर वापस जंगल की राह पकड़ चल दिया।

परिव्राजक उसी प्रकार गया, तो खलिहान में ४-५ लोग बैठकर आग ताप रहे थे और बातें कर रहे थे। ...

– "ओ भाइयो, मामाजी हैं क्या? कहो एक संन्यासी आया है, रात में ठहरना चाहता है।"

मामाजी तो पास के ही एक छप्पर में चारपाई पर लेटे थे। एक आदमी के जाते ही उठ बैठे। फिर कहाँ से उधर आया, कहाँ जा रहा है, आदि प्रश्न के बाद अन्दर घुसने के लिए द्वार खोल देने को कहा – आग के पास बैठ जाने पर मामाजी ने पूछा – "यह स्थल आपको किसने बताया?" जब वर्णन सुना तो इतने घबड़ाए कि क्या कहने ! "अरे, बन्दूक फोड़, बन्दूक फोड़ ! वह किधर गया? जंगल की तरफ वापस !"

"अरे, बन्दूक फोड़, बन्दूक फोड़ !" यानी बन्दूक चलाकर आवाज कर ! आदमियों ने धुड़ूम धुड़ूम चलाया, फिर कहा – "वह भयंकर डाकू है, बहुत-से खून किए हैं – लूट तो बात बात में करता है ! आपको कुछ किया नहीं न?"

"ना ना, पास में तो है नहीं जो ले। वह तो एक मील दूर से रास्ता बताता हुआ यहाँ तक आया, और 'राम राम' कर चल दिया।"

मानवता की झाँकी उसमें भी थी।

सन्त-सेवा की दिव्य भावना

शान्त सुन्दर सुशीतल हिमाचल प्रदेश। यमुनोत्री तीर्थ के रास्ते पर करीब नौ मील आगे एक पहाड़ी गाँव है। सड़क से कुछ ऊपर पहाड़ की एक चोटी पर दूर से छवि जैसा मनोहर, दोनों ओर दूर दूर तक तुषारमंडित धवल गिरिशृंग, अपूर्व प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच है यह गाँव !

परिव्राजक संन्यासी हिमालय में भ्रमण करता हुआ, इस गाँव में जा पहुँचा। दोपहर का समय था। खूब भूख लगी थी, पिछले दिन आहार पूरा न मिलने से अन्न की आवश्यकता खूब जान पड़ती थी, पर यह क्या? गाँव खाली प्रतीत हो रहा है। आदमी तो हैं, क्योंकि गौएँ चर रही हैं, कुत्ते भी हैं, बस्ती के और भी कई चिह्न हैं। एक मकान के आंगन में बैठकर एक बुढ़िया तकली से ऊन कातती हुई मिली। संन्यासी को देखते ही वह बड़े प्रेम से स्वागतपूर्वक बोली – "आओ नारायण, पधारो।" और चटाई का एक आसन बिछा दिया। आज आप हमारे घर पर पधारे, हमारा अहोभाग्य ! अब भिक्षा लेकर ही जाना, बहू-बेटी सब घास के बीज लाने गयी हैं, पाँच गाँव दूर, सुबह उठकर ही गयी हैं। शाम तक सब आ जाएँगी, तब उससे रोटी बनाएँगी, आप भी पाओगे। दो साल से कुछ फसल पकी नहीं, क्या करें, परमेश्वर की जैसी मर्जी !"

इतने में एक वृद्ध आए। वे गाँव के प्रधान मुखिया थे। 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर बड़ी सज्जनता से नमस्कार के साथ स्वागत किया। बोले – "महाराज, आप मेरे घर चलिए, इनके यहाँ कोई नहीं है, सब घास के बीज लेने गए हैं, गाँव की सब स्त्रियाँ गयी हैं। समर्थ पुरुष मजूरी करने के लिए मसूरी, देहरादून गये हैं। कुछ कमाएँगे और फिर धान लेकर आएँगे। दो साल से इधर कुछ पैदा नहीं हुआ है महाराज, क्या करें? पेट के लिए कुछ उपाय करना ही होगा। भिक्षा का समय हो गया है। मेरे यहाँ रोटी तैयार है, पधारिए।"

पर बुढ़िया छोड़ने को राजी नहीं हुई – "अपने घर सन्त आए हैं। कुछ खाए बिना कैसे चले जाएँगे? अमंगल होगा। शाम तक बहू-बेटी आ जाएँगी, उस समय रोटी बनेगी। अभी घर में कुछ है नहीं, क्या करें? नहीं तो मैं ही पकाकर खिला देती। मैं भी जानती हूँ कि भिक्षा का समय हो गया है, पर घर आए हैं, तो भिक्षा करके ही जाएँगे और मैंने ही बुलाकर बैठाया है, अब अगर ऐसे ही चले जायँ, तो अधर्म होगा।"

प्रधान ने खूब समझाया – "भूख है, ऐसे बैठाकर रखना उचित नहीं, हम सब एक ही तो हैं, इसमें दोष नहीं, गाँव की तरफ से मैं हाजिर हूँ। मेरे किए हुए सत्कारों में सभी का भाग है ! ... आदि आदि। "हाँ, ठीक ही है, पर घर-आँगन से जरा कुछ ग्रहण किये बिना चले जायँ, यह हो नहीं सकता। ऐसा कहकर अन्दर गयी और एक कण भर गुड़ लाकर संन्यासी के हाथ में रखकर आँखों में आँसू भरे, "महाराज, और कुछ नहीं है, इतना स्वीकर करिए", कहकर हाथ जोड़े बैठ गयी। संन्यासी ने प्रेम से उसे ग्रहण किया और खूब आशीर्वाद देता हुआ प्रधान के साथ उसके घर गया। प्रधान ने भिक्षा में बड़े प्रेम से छोटी छोटी चार रोटियाँ दीं और कहा "महाराज, अब इतने से जलपान कर लीजिए, रात में जंगल से घास के दाने संग्रह करके जब औरतें आएँगी, तो फिर रोटी पकेगी। क्या करें महाराज, दो साल से कोई अन्न पका नहीं, आलू भी नहीं हुआ, नहीं तो हम उससे भी काम चला लेते।"

रोटी का रंग था बिल्कुल हरा – सब्ज ! रोटी का रंग देखकर संन्यासी मन-ही-मन घबड़ाया और बोला, "प्रधानजी, गाँव से बाहर झरने पर खाऊँगा।" ऐसा कहकर गाँव के बाहर झरने के पास चला गया। परन्तु, एक टुकड़ा तोड़कर मुँह में डालते ही कुनैन-सा कड़वा स्वाद पाकर घबड़ा गया। – "अरे मन, यह भोजन कितने कष्ट का है। तू कौन-सा साहबजादा है। खा ले। यही खाकर लोग जीते हैं और वह भी मुश्किल से मिलता है, अत: फेंकना अनुचित है, तू खा ले।" पर मन को समझाने से क्या होगा, मुँह में डालते ही अन्नप्राशन तक का अन्न भी बाहर आने लगा, पानी पीकर भी बड़ी मुश्किल से वह छोटा-सा टुकड़ा तो पेट में डाला, पर बाकी को खाना असंभव सा प्रतीत होने पर वह विचारने लगा, "अब क्या किया जाय? भिक्षा में दिया हुआ अन्न आदि कोई वस्तु गृहस्थ वापस तो लेते नहीं, अधर्म मानते हैं, और संन्यासी के लिए भी लेकर फेंकना अधर्म है। धर्म-संकट में पड़कर विचारने लगा कि क्या किया जाय। इतने में जहाँ संन्यासी बैठे थे, वहाँ से कुछ ऊपर नजर गयी, तो उसने देखा कि जीर्ण-शीर्ण हाड़-पिंजर वाला एक ग्वाल-बालक बैठा हुआ है और मानो भूखे शेर की तरह आग्रहपूर्वक रोटी की ओर देख रहा है।

संन्यासी ने इशारे से उसे बुलाया, तो एकदम कूदकर हाजिर हो गया और साढ़े तीन रोटियाँ देते ही बिल्कुल मिठाई की भाँति खा गया, पानी भी नहीं पीया। – अहा, भूख !

ऊपर का पूरा दृष्टान्त अपूर्व धार्मिकता के साथ मानवता की झाँकी बताता है।

❖ (क्रमश:) ❖

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

७९. प्रश्न – भगवद्दर्शन का क्या तात्पर्य है? उसका जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर – भगवद्दर्शन मन की एक अवस्था है, जिसमें मन की सारी हलचल समाप्त हो जाती है। सामान्यत: हम तीन अवस्थाओं का उपभोग करते हैं। एक तो 'जाग्रत' अवस्था है; जिसमें मन अत्यन्त चंचल बना रहता है। दूसरी 'स्वप्न' की है। इसमें मन का ही संसार हमारे सामने रहता है। जाग्रत में शरीर और मन दोनों चंचल होते हैं, क्रियाशील बने रहते हैं। स्वप्न में शरीर तो सोया रहता है, पर मन अपने संसार का ताना-बाना बुनता रहता है। इस दशा में मन की चंचलता जाग्रत अवस्था की अपेक्षा अधिक होती है और इसमें संयम का अभाव भी पहले से अधिक होता है। तीसरी अवस्था 'सुषुप्ति' – गाढ़ी नींद की है। इसमें शरीर के साथ मन भी सो जाता है। यद्यपि इस अवस्था में भी मन की हलचल शान्त रहती है, पर यह भगवद्दर्शन की अवस्था नहीं है। भगवद्दर्शन में मन शान्त होने के साथ-साथ जागता भी रहता है, जबकि सुषुप्ति में वह सोया रहता है। सोकर निश्चल हो जाना और बात है तथा जागकर निश्चल रहना और बात। जागकर निश्चल रहने की अवस्था को ही चतुर्थ या 'तुरीय' अवस्था कहा गया है। यही भगवद्दर्शन की भी अवस्था है।

यह चतुर्थ अवस्था अन्य तीनों अवस्थाओं की आधारभूत सत्ता है। जैसे सागर के वक्ष पर बुलबुले, लहरें और तरंगें उठा करती हैं तथा सागर ही बुलबुलों, लहरों और तरंगों की आधारभूत सत्ता है, वैसे ही तुरीय या चतुर्थ अवस्था के वक्ष पर ही ये तीनों अवस्थाएँ एक के बाद एक उठा करती हैं। तीनों अवस्थाएँ एक दूसरे का तो बाध करती हैं, पर चतुर्थ अवस्था का नहीं। इस चौथी अवस्था को प्राप्त करना ही भक्ति की भाषा में 'भगवद्दर्शन', ज्ञान की भाषा में 'आत्म-साक्षात्कार' और योग की भाषा में 'द्रष्टा आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थान' है। यह तुरीय अवस्था रूप और गुण से परे है। वह निर्विकल्प की स्थिति है।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि 'भगवद्दर्शन' कहने से तो किसी रूप का बोध होता है, अत: तुरीय की अवस्था को भगवद्दर्शन के नाम से कैसे पुकारा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जैसे बर्फ जल से भिन्न होती हुई भी तत्त्वत: उससे अभिन्न है, वैसे ही सगुण-साकार निर्गुण-निराकार से भिन्न होता हुआ भी वस्तुत: उससे अभिन्न है। भक्त अपनी शुद्ध भावना से उस निर्गुण-निराकार को रूप धारण करने के लिए बाध्य कर देता है। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि जैसे जल शीतलता के कारण जमकर हिम का रूप धारण कर लेता है, वैसे ही भक्त की भक्ति की शीतलता से वह निर्गुण-निराकार जमकर सगुण-साकार हो जाता है। इस सगुण-साकार ईश्वर का दर्शन ही वास्तव में भगवद्दर्शन का असल तात्पर्य है।

मन के चंचल रहते भगवद्दर्शन सम्भव नहीं। सरोवर का जल यदि विक्षुब्ध हो, तो तलहटी की चीजें विकृत दीख पड़ती हैं। उन चीजों के अपने स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, पर हिलती-डुलती जलराशि के कारण वे टेढ़ी-मेढ़ी दीख पड़ती हैं। जल यदि शान्त हो जाय, तो वे जैसी हैं वैसी ही दिखने लगती हैं। इसी प्रकार, मनरूपी जल के चंचल होने के कारण वह सर्वानुस्यूत, सर्वाधार, स्थिर, कूटस्थ आत्मतत्त्व विकृत-सा दिखाई पड़ता है। पर जब मनोजल शान्त हो जाता है, तो आत्मतत्त्व अपने ही स्वरूप मे प्रकट हो जाता है। यही यह चौथी अवस्था है, जिसका उल्लेख और विवेचन हमने ऊपर किया है। भक्त अपनी भावना से इस निराकार-निर्गुण ज्योतिर्मय अरूपराशि के वक्ष पर एक तेजोमय, भावमय रूप खड़ा कर लेता है। अरूप तत्त्व 'आत्मा', 'ब्रह्म', 'शुद्धचैतन्य' आदि नामों से सम्बोधित होता है और सरूप तत्त्व 'भगवान' की संज्ञा से अभिहित होता है। तुरीय की चतुर्थ अवस्था में पहुँच जाना अरूप तत्त्व का ज्ञानात्मक बोध है और सरूप तत्त्व का भावात्मक दर्शन। अरूप तत्त्व के ज्ञानात्मक बोध को आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, कैवल्यमुक्ति, निर्विकल्प समाधि आदि नामों से पुकारते हैं और सरूप तत्त्व के भावात्मक दर्शन को भगवद्दर्शन या सविकल्प समाधि की संज्ञा देते हैं।

जब व्यक्ति को भगवद्दर्शन होता है, तो उसकी समूची चेतना को एक नया आयाम प्राप्त हो जाता है; वह अनित्य सत्य की भूमिका से नित्य सत्य की भूमिका पर उठ आती है। इस अवस्था में एक अनिर्वचनीय आनन्द-ऊर्मि सतत खेलती रहती है और हम मानसिक दुर्बलताओं से ऊपर उठकर मन के

स्वामी बन जाते हैं। आज मन हमारा स्वामी बना हुआ है, वह हमें इच्छानुसार चलाता है, कई बार न चाहते हुए भी हम मन के कहने में आ जाते हैं। भगवद्दर्शन होने पर मन हमारे नियंत्रण में आ जाता है और उसे हम अपनी इच्छानुसार चलाने लगते हैं। दर्शन की भाषा में कहें, तो हम जीवन्मुक्त हो जाते हैं तथा सदा के लिए आवागमन के चक्र से छूट जाते हैं।

८०. प्रश्न – महाभारत के उद्योगपर्व के अन्तर्गत 'विदुर-नीति' प्रसंग में महात्मा विदुर का यह कथन कि **'दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकं'** (मैं प्रारब्ध को अटल मानता हूँ, उसके सामने पुरुषार्थ निरर्थक है), कहाँ तक उचित है?

उत्तर – उक्त कथन विदुर का न होकर धृतराष्ट्र का है। विदुरजी ने राजा धृतराष्ट्र को तरह-तरह से समझाया कि दुर्योधन अधर्म के रास्ते से जा रहा है, जबकि पाण्डवों का रास्ता धर्म का है। इस पर धृतराष्ट्र ने विदुरजी से कहा (उद्योग पर्व, ३९/३०-३२) –

एवमेतद् यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथाऽऽत्थ माम ।।
सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ।।
न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ।।

– "विदुर! तुम प्रतिदिन मुझे जिस प्रकार उपदेश दिया करते हो, वह बहुत ठीक है। सौम्य! तुम मुझसे जो कुछ भी कहते हो, ऐसा ही मेरा भी विचार है। यद्यपि मैं पाण्डवों के प्रति सदा ऐसी ही बुद्धि रखता हूँ, तथापि दुर्योधन से मिलने पर फिर बुद्धि पलट जाती है। प्रारब्ध का उल्लंघन करने की शक्ति किसी भी प्राणी में नहीं है। मैं तो प्रारब्ध को ही अचल मानता हूँ, उसके सामने पुरुषार्थ तो व्यर्थ है।"

धृतराष्ट्र के इस कथन को धर्म का प्रमाण नहीं माना जा सकता। धृतराष्ट्र दुर्बलचित्त व्यक्ति हैं, उनमें मनुष्य की सारी कमजोरियाँ विद्यमान हैं। उनका यह कथन कि 'दुर्योधन से मिलने पर फिर बुद्धि पलट जाती है,' उनके चरित्रदोष को प्रकट करता है। ऐसा व्यक्ति धर्म की व्यवस्था नहीं दे सकता। प्रारब्ध को वही अचल मानता है, जिसमें आत्मविश्वास की कमी है, जो पलायनवादी है, जो परिस्थितियों का सामना करने से घबराता है।

अब थोड़ा तात्त्विक विवेचन करें। 'प्रारब्ध' बनता कैसे है? पूर्वजन्म के कर्मों से। पूर्वजन्म के कर्म होते कैसे हैं? इस प्रश्न के तीन उत्तर हो सकते हैं – (१) पहला उत्तर यह दिया जा सकता है कि पूर्वजन्म के कर्म उसके पहले के जन्म के कर्मों के फलस्वरूप होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आज जो हम कर्म करते हैं, वह प्रारब्ध का परिणाम है। यह प्रारब्ध पिछले जन्म के कर्मों से निर्मित हुआ तथा पिछले जन्म के कर्म उस जन्म के प्रारब्ध के फलस्वरूप हुए। इस मत में मनुष्य के इच्छा-स्वातंत्र्य के लिए, पुरुषार्थ के लिए कोई गुंजाइश नही रह जाती, मनुष्य केवल एक यंत्र के समान हो जाता है।

(२) दूसरा उत्तर यह दिया जा सकता है कि पूर्वजन्म के कर्म मनुष्य स्वयं अपनी इच्छा से करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य का प्रारब्ध स्वयं उसके हाथ में है। आज जो हम कर्म करते हैं, अपनी इच्छा-शक्ति से करते हैं; अर्थात् हम अपने अगले जन्म का प्रारब्ध इच्छानुसार तैयार कर ले सकते हैं। इस मत के अनुसार, व्यक्ति जैसा चाहे कर सकता है; अर्थात् भाग्य या प्रारब्ध नाम की कोई वस्तु नहीं, पुरुषार्थ ही सत्य है।

(३) तीसरा उत्तर यह है कि मानव-जीवन भाग्य और पुरुषार्थ का मिला-जुला खेल है। मनुष्य कुछ सीमा तक बँधा है और कुछ तक स्वतंत्र है। अपनी स्वतंत्रता का समुचित उपयोग कर वह अपने बन्धन की सीमा को कम भी कर सकता है।

इन तीन उत्तरों में पहला तो धृतराष्ट्र की दृष्टि है। इसे इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इसमें मनुष्य की स्थिति पशुवत् हो जाती है। वह केवल एक मशीन बन जाता है जिसमें अपनी इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं। यह स्वीकार करने योग्य स्थिति नहीं है।

दूसरा उत्तर केवल पुरुषार्थ को मानता है। यह भी सही नहीं है। यदि जीवन में पुरुषार्थ ही सब कुछ हो जाता, तो प्रयत्न कभी असफल नहीं होता। एक अच्छा-खासा तन्दुरुस्त नौजवान अचानक काल-कलवित हो जाता है। एक अच्छा तैराक पानी में डूबकर मर जाता है। जहर खानेवाला बच जाता है और दवा खानेवाला मर जाता है। केवल पुरुषार्थ इस समस्या का समाधान नहीं कर पाता।

अतएव तीसरा उत्तर ही सही है। हम देखते हैं कि मनुष्य एक घेरे में बँधा है पर वह उस घेरे में कर्म करने के लिए स्वतंत्र भी है। भाग्य हमें एक घेरा प्रदान करता है, पर हम उस घेरे के अन्दर पुरुषार्थ कर सकते हैं। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि यदि भाग्य में पैर कटना लिखा होगा, तो पुरुषार्थ के माध्यम से यह सम्भव है कि पैर कटेगा नहीं, तो काँटा चुभकर रह जाएगा। अर्थात् पुरुषार्थ से भाग्य की रेखा को क्षीण करना सम्भव है। हमें पुरुषार्थ करने के लिए घेरा आज प्राप्त है, उसका समुचित उपयोग करते हुए अपना भावी प्रारब्ध पर्याप्त मात्रा तक प्रभावित कर सकते हैं। तभी तो महाभारत में अन्यत्र कहा है – **'तथा पुरुषकारेण बिना दैवं न सिध्यति'** – 'बिना पुरुषार्थ के भाग्य भी फलदायी नही होता।'

❖ (क्रमशः) ❖

शिक्षकों का कर्तव्य (२)

स्वामी रंगनाथानन्द

(रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने दिल्ली, फरीदाबाद तथा नोएडा में स्थित एपीजे स्कूलों के शिक्षकों को २ अप्रैल, १९८६ को सम्बोधित करते हुए अंग्रेजी भाषा में जो व्याख्यान दिया था, यह लेखमाला उसी पर आधारित है। मूल अंग्रेजी में भी इस व्याख्यान के अनेक संस्करण निकलकर काफी लोकप्रिय हुए हैं। विषय की नवीनता तथा विशेष उपादेयता देखते हुए हिन्दी में इसका अनुवाद किया है 'विवेक-ज्योति' सम्पादकीय विभाग के ही स्वामी प्रपत्यानन्द जी ने। – सं.)

५. व्यक्ति का मनुष्य में रूपान्तरण

भारत के विभिन्न भागों में मैं प्राय: ही अपने शिक्षकों को कहता हूँ कि जब आप कक्षा में प्रवेश करते हैं, तब सबसे पहले कक्षा में एक बार नजर घुमाकर देख लें, सामने बैठे छात्रों की ओर देखते हुए, मोहक मुस्कान के साथ उनका स्वागत करें और मन-ही-मन अपने स्वयं से पूछें – "मेरे सामने उपस्थित ये बच्चे कौन हैं? मैं यहाँ क्या करने के लिए आया हूँ?" तब आपको उत्तर मिलेगा –

"समाज के विभिन्न स्तर से आये हुए ये बच्चे ज्ञान की खोज में हैं। सैकड़ों वर्षों से इन्हें शिक्षा पाने का सौभाग्य नहीं मिल सका था; परन्तु अब हमारे स्वाधीन भारत का संविधान हमारे देश के हर बच्चे को शिक्षा और अच्छा जीवन देने का वादा करता है। इसीलिए ये बच्चे, कुछ सुदूर गाँवों से भी, शिक्षा-प्राप्ति के उस विशेषाधिकार का लाभ उठाने आये हैं, जो अब तक हमारी पुरानी सामन्ती व्यवस्था में केवल कुछ लोगों के लिए ही सुलभ थी। मैं यहाँ, इन बच्चों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञान तथा प्रेरणा की ज्योति जगाने के लिए आया हूँ।"

जब आप इस दृष्टिकोण के साथ बोलने के लिए अपना मुख खोलेंगे, तब आपका प्रत्येक शब्द सामने बैठे बच्चों को प्रोत्साहित करेगा। तब आप केवल एक आत्मकेन्द्रित, वेतनभोगी कर्मचारी या धनार्थी **व्यक्ति** तक ही सीमित नहीं रह जाते, अपितु एक सच्चे शिक्षक, प्रबुद्ध नागरिक और पूर्ण **मनुष्य** बन जाते हैं।

अभी मैंने जिन – व्यक्ति तथा मनुष्य – दो शब्दों का प्रयोग किया है, उन्हें आप अपने स्वयं के विकास और साथ ही अपने शिक्षण-कार्य की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व का पाएँगे। आत्म-केन्द्रित व्यक्ति के रूप में आप अपनी स्वयं की रुचियों-अरुचियों, अपनी स्वयं की इच्छाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं द्वारा सीमित एक तुच्छ जैविक सत्ता मात्र हैं। पर ज्योंही आप विकसित व्यक्ति बन जाते हैं, त्योंही आपका विस्तार होता है और आप अन्य लोगों के जीवन में प्रवेश करने तथा उनकी ओर से भी सकारात्मक प्रतिक्रिया जगाने में समर्थ हो जाते हैं। आत्म-केन्द्रित व्यक्तित्व और विकसित मनुष्यत्व के बीच यही भेद है। **व्यक्ति की अपेक्षा मनुष्य अधिक समृद्ध शब्द है।** अँग्रेज विचारक व मानवतावादी बर्ट्रेंड रसेल ने आत्म-केन्द्रित व्यक्ति की तुलना बिलियर्ड की गेंद से की है। बिलियर्ड की गेंद केवल दूसरे बिलियर्ड की गेंदों से टक्कर लेना ही जानती है। ठीक वैसे ही 'व्यक्ति' के रूप में व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के साथ सहयोग नहीं कर सकता, बल्कि वह प्राय: उनसे टकराता ही रहेगा। आत्म-केन्द्रित व्यक्ति के स्तर पर शिक्षकों और शिक्षकों के बीच और शिक्षकों तथा छात्रों के बीच टकराहट होती रहती है। परन्तु ज्योंही आप 'मनुष्य' बन जाते हैं, त्योंही आप दूसरों के हृदय में प्रवेश करने की तथा दूसरों को अपने हृदय में प्रवेश देने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं; तब आप अन्य शिक्षकों तथा छात्रों के साथ मिल-जुलकर कार्य करने में सक्षम हो जाते हैं। व्यक्ति से मनुष्य में विकास आध्यात्मिक विकास है, अत: इससे आन्तरिक समृद्धि आती है।

टेलहार्ड डे कार्डिन द्वारा लिखित 'मनुष्य की वास्तविकता' (The Phenomenon of Man) नामक पुस्तक की प्रस्तावना मे अँग्रेज जीवविज्ञानी और मानवतावादी सर जूलियन हक्सले ने 'मनुष्य' तथा 'मनुष्यत्व' की सुन्दर वैज्ञानिक परिभाषा दी है –

"जिन व्यक्तियों ने सचेत सामाजिक सहभागिता द्वारा अपनी दैहिक व्यक्तित्व की सीमा पार कर ली है, वे ही मनुष्य हैं।"

व्यक्ति के रूप में आप जैविक दृष्टि से सीमित पुरुष या नारी हैं। सचेत सामाजिक सहभागिता के द्वारा आप इस दैहिक सीमा को पार करके एक मनुष्य के रूप में विकसित होते हैं। इससे आपमें प्रेम करने और प्रेम पाने की क्षमता का विकास होता है। दैहिक सीमा में आबद्ध अहं को व्यक्तित्व कहते हैं और इस दैहिक सीमा के परे अहं के विस्तार को मनुष्यत्व कहते हैं। श्रीरामकृष्ण इसे 'कच्चा मैं' और 'पक्का मैं' कहते हैं। दैहिक सीमा के परे ले जानेवाले सभी विकास आध्यात्मिक विकास हैं। वेदान्त के मतानुसार व्यक्तित्व-बोध ही आध्यात्मिक विकास का प्रथम सोपान है। यह उसे सामूहिकता में डूबने से बचाता है और उसे मानवीय स्वाधीनता तथा गौरव के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करता है। यह विशुद्ध रूप से एक मानवीय वैशिष्ट्य है। कोई भी पशु व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता, क्योंकि पशु में आत्मचेतना या अहं का बोध नहीं होता। मानव-शिशु के लगभग दो-ढाई वर्ष की आयु में उसकी आत्म-चेतना के अहं-बोध के रूप में व्यक्तित्व का भाव उत्पन्न होता है। और इस अहंभाव या व्यक्तित्व के भाव को

सबल बनाना ही शिशु के पाँच वर्ष की आयु तक की प्रथम शिक्षा है। और इसके बाद उसे दूसरों की सेवा में प्रेरित करके, अपने जीवन तथा कार्य-योजना में अन्य लोगों के लिए स्थान बनाते हुए क्रमश: मनुष्यत्व में विकसित होने की शिक्षा दी जानी चाहिए। पाँच वर्ष की आयु के बाद व्यक्तित्व से मनुष्यत्व में सतत विकास की प्रक्रिया आरम्भ होनी चाहिए। अन्यथा ऐसी सम्भावना है कि वह शिशु त्रासदी तथा ग्रन्थियो का संग्रह करते हुए, दूसरों के साथ सुखद सम्बन्ध जोड़ने मे अक्षम एक समस्याग्रस्त शिशु बनकर रह जायेगा।

इस सन्दर्भ में हम संस्कृत या हिन्दी के दो शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं – व्यक्तित्व (individuality) और 'विकसित व्यक्तित्व' (personality)। बच्चा पहले एक व्यक्ति होता है और बाद में वह क्रमश: विकसित व्यक्तित्व में उन्नत होता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो जब हमारा कोई बच्चा, विशेषकर आदिवासी तथा पिछड़े क्षेत्रों से, पहली बार विद्यालय में आता है, तो उसके अविकसित सामन्तवादी सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण उसका कोई सुस्पष्ट **व्यक्तित्व** नहीं होता। वह किसी समूहगत जाति या उपजाति का एक अंश होता है, लेकिन कुछ दिन की विद्यालयीय शिक्षा से ही उसमें व्यक्तित्व-बोध विकसित होने लगता है। हमारे वेदान्त के अनुसार – प्रत्येक बालक को घर में और सामाजिक बन्धनों में जकड़े प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा के पहले पाठ के रूप में उसे उसके व्यक्तिगत सम्मान तथा गौरव का बोध प्रदान करना होगा। भारत में राष्ट्रीय स्तर पर इस महान् कार्य को पूरी तौर से सम्पन्न करना अभी बाकी है। हजारों वर्षो से हमारे देश के करोड़ों लोग सामाजिक रूप से उपेक्षित रहे हैं। वे लोग शिक्षा तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करके धीरे धीरे उस निम्न स्थिति से उन्नत हो रहे हैं। अतएव वेदान्त के मतानुसार हर प्रकार की आध्यात्मिक उन्नति तथा हर तरह की शिक्षा का प्रथम सोपान है – व्यक्तित्व। व्यक्तित्व रूपी यह पहला कदम उठाये बिना 'विकसित व्यक्तित्व' रूपी दूसरा कदम उठाना हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है। केवल उस पहले कदम के द्वारा हम केवल जिद्दी, आत्मकेन्द्रित, सीमित और परस्पर कलहशील अनेकों बिलियर्ड की गेदों जैसे व्यक्तित्वों का ही सृजन कर सकेंगे। आज भारत में ऐसा ही हो रहा है। हम सभी अपने व्यक्तिगत अधिकारों से युक्त, स्वाधीन व्यक्ति हैं। हम अपनी व्यक्तिगत स्वाधीनता के आधार पर तरह तरह की माँगें उठाते रहते हैं। व्यक्तियों के रूप में हममें अपनी स्वाधीनता का बोध है, पर अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का जरा भी बोध नहीं। जीवन की यह अवस्था, स्वाधीनता के साथ मानसिक अपरिपक्वता की बोधक है।

अत: एक सीमा के बाद यह व्यक्तित्ववाद हमारे देश या किसी भी समाज के स्वास्थ्य तथा कल्याण की दृष्टि से खतरनाक सिद्ध हो सकता है। अत: व्यक्ति को ऐसे मनुष्य में परिणत करने के लिए, जिसकी स्वाधीनता का भाव सामाजिक उत्तरदायित्व के बोध से उत्पन्न मानसिक परिपक्वता से युक्त हो, प्रत्येक शिक्षा में वह दूसरा कदम अत्यावश्यक है। आध्यात्मिक विकास रूपी यह दूसरा कदम उठाये जाने पर व्यक्ति के जीवन में कुछ महान् घटना होगी। तब राष्ट्र के पास, अपने शिक्षित वर्ग के रूप में, करोड़ों स्वाधीन तथा जिम्मेदार नागरिक उपलब्ध होंगे। तब सम्पूर्ण राष्ट्र कदम-से-कदम मिलाकर अपने महान् भाग्य की ओर कूच कर सकेगा। कदम-से-कदम मिलाकर चलने का अर्थ है आपसी सहयोग और मिल-जुलकर कार्य करना। सीमित व्यक्ति में नहीं, बल्कि विकसित मनुष्य होने पर ही यह गुण आता है। सीमित व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या, कलह तथा एक-दूसरे को नीचे खींचने का प्रयास किये बिना नहीं रह सकता। परन्तु 'विकसित व्यक्ति' आपसी सहयोग और एक साथ रहने एवं कार्य करने की क्षमता अर्जित कर लेता है और यह क्षमता आध्यात्मिक विकास का गौण उत्पाद होने के कारण उसमें स्वत:स्फूर्त तथा स्वाभाविक रूप से आ जाती है। सजग सामाजिक सहयोग के द्वारा मात्र दैहिक व्यक्तित्व का विकसित व्यक्तित्व (मनुष्यत्व) में रूपान्तरण ही सुखी पारिवारिक जीवन तथा पूर्ण राष्ट्रीय एकता का एकमात्र उपाय है। आप मनुष्यों में एकता स्थापित कर सकते हैं, व्यक्तियों में नहीं; पहले (मनुष्य) में यह एकता अन्दर से प्रकट होती है, जबकि दूसरे (व्यक्ति) में यह बाहर से थोपी जाती है। वर्तमान में हम लोगों में परस्पर मिल-जुलकर कार्य करने की प्रवृत्ति और पूर्ण राष्ट्रीय एकता का अभाव है। क्योंकि हममे से अधिकांश 'व्यक्ति' मात्र हैं, विकसित व्यक्ति या 'मनुष्य' नही।

❖ (क्रमश:) ❖

अनमोल उक्तियाँ

* तभी सच्ची प्रार्थना होती है, जब हम भूल जाते हैं कि हम प्रार्थना कर रहे हैं।

* जिस वस्तु को बाँटोगे, वह बढ़ेगा और जिसे तुम अपने लिए बचाकर रखोगे, वह घटेगा।

* सोते हुए जीवन बिता देने की अपेक्षा काम करके असफल होना अच्छा है।

* सूर्योदय के पूर्व अन्धकार घोरतम होता है।

* अब तक ऐसा कोई भी तूफान देखने में नहीं आया, जो स्वयं शान्त न हो गया हो।

* अपने जीवन के वरदानों को गिनो, अभिशापों को नहीं।

कृष्ण-अर्जुन-संवाद का रहस्य (१)

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतेचा अंतरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम जनवरी अंक से क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

जो 'स्वधर्म' जगत् और जीवन के परम सत्य को प्राप्त करने का अमोघ साधन है, भगवान श्रीकृष्ण के लीलासहचर, प्रभु के प्रिय सखा, महा-भाग्यवान, परम गुणवान अर्जुन उस स्वधर्म का, उस स्वभाव-नियत स्वकर्म का आचरण करने की पावन प्रेरणा लेकर, पूर्ण उत्साह-उद्यम-आकांक्षा और निर्भय व प्रफुल्ल हृदय से युक्त होकर, भगवान के साथ कुरुक्षेत्र की रणभूमि में आ डटे थे।

घटनाएँ घट रही थीं।

अब शीघ्र ही होनेवाले अपरिहार्य, अटल महायुद्ध का प्रारम्भ सूचित करनेवाली दोनों पक्षों के शंखध्वनियों का आदान-प्रदान व रणवाद्यों का निनाद अब थम चुका था।

अब शीघ्र ही 'शस्त्रसंपात' की, अस्त्र-शस्त्रों का घात-प्रतिघात शुरू होनेवाला था।

उसी समय रणरंगधीर अर्जुन ने, अपने उस त्रिलोक-विख्यात् दैवी धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाने के बाद, दुष्टबुद्धि दुर्योधन की ओर से और अपनी ओर से लड़ने के लिए कौन कौन आया है – उन पर एक बार स्वयं नजर डालने के लिए प्रभु से, अपने उस दिव्य सारथी से – अपने रथ को सेना के अग्रभाग में ले जाकर '**सेनयोः उभयोः मध्ये**' – दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करने को कहा।

* * *

प्रभु ने वैसा ही किया और कहा – "देखो अर्जुन, युद्ध के लिए एकत्रित हुए सामने खड़े इन कौरवों को देखो।"

अर्जुन ने एक बार उस विशाल शत्रु-सेना की ओर देखा, निरीक्षण किया। और फिर सहसा एक विचित्र घटना हुई। आज कितने ही दिनों से, जिनसे दो-दो हाथ करने की मन से तैयारी करते हुए अर्जुन अपने शस्त्रों की धार तेज कर रहे थे, वे सभी केवल 'स्वजन' हैं, नि:सन्देह 'अपने ही लोग हैं' – यह महान् सत्य अर्जुन के मन में पहली बार ही सहसा प्रकट हुआ। उसी क्षण सहसा स्ट्राइक हुआ। अब उन्हें 'सेनयो: उभयो: अपि'– दोनों सेनाओं में 'सर्वान् बन्धून् अवस्थितान्' केवल मित्र ही मित्र दिखने लगे – शत्रु कोई भी नहीं दिखा।

\- २ -

अर्जुन बड़ी द्वेष-भावना के साथ, खूब जोशो-खरोश के साथ, विरोधी पक्ष की ओर से युद्धभूमि में लड़ने के लिए एकत्रित हुए योद्धाओं – अपने शत्रुओं को देखने गये थे। पर उन्हें सहसा विपक्ष और स्वपक्ष, दोनों ओर ही सर्वत्र केवल स्वजन ही दिखने लगे। क्षण भर पूर्व ही उन्होंने सहज तथा नि:संकोच भाव से जिसका 'दुर्बुद्धि धार्तराष्ट्र' कहकर उल्लेख किया था, इस घोर संहार-नाटक का खलनायक – इस भीषण अनिष्ट का एकमेव मूल कारण वह दुर्योधन तक अब उन्हें 'स्वबान्धव धार्तराष्ट्र' – अपना ही भाई प्रतीत होने लगा – केवल 'लोभोपहतचेता' – राज्यलालसा के कारण सिरफिरा, आततायी स्वभाव का एक अज्ञानी व्यक्ति, बस इतना ही। मूढ़, पागल, दया का पात्र – आघात का नहीं।

* * *

हाँ, दया का पात्र।

अत: विपक्ष में तथा स्वपक्ष में ठसाठस भरे उन स्वजनों के प्रति 'परया कृपया' – दया से अर्जुन का हृदय लबालब भर गया।

और फिर, अब अर्जुन को इस कल्पना मात्र से ही अत्यधिक विषाद होने लगा कि इन दया के पात्र स्वजनों का संहार होगा। न भूतो न भविष्यति – ऐसा शोक होने लगा, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था।

जितनी गहरी उनकी यह दया थी, उतना ही घना उनके लिए विषाद था – उस भयंकर विषाद के कारण, उस अपार शोक के कारण इतने बड़े रणबाँकुरे, शूरवीर अर्जुन एकदम विकल हो गये, बिल्कुल दीन-हीन हो गये – उसके हाथ-पैर शक्तिहीन-से हो गए, मुँह सूखने लगा, शरीर काँपने लगा, उसमें सिहरन होने लगी, ग़ांडीव हाथ से गिरने लगा, शरीर में जलन होने लगी। वे बैठ भी नहीं पा रहे थे। दिमाग भन्ना गया था, बेहोशी-सी आने लगी। बिना किसी कारण के अचानक उन्हें असंगत अपशकुन तक दिखाई देने लगे।

और इतना कुछ होने के बाद भी यह सब यहीं नहीं रुका।

अर्जुन उचित विचारों के साथ, 'स्वधर्म' का – क्षात्रधर्म का पालन करने की उदात्त प्रेरणा से प्रेरित होकर वर्तमान परिस्थिति में अपरिहार्य समझकर युद्ध के लिए तैयार थे।

परन्तु दोनों ओर स्वजनों को देखकर उमड़ी हुई उस अपार दया के कारण उन्हें यह धर्मयुद्ध, यह स्वधर्माचरण अब सहसा

ही अत्यन्त कलुषित, निन्दनीय, त्याज्य प्रतीत होने लगा. यह युद्ध, यह स्वधर्मानुष्ठान अब अचानक ही उन्हें केवल 'विजय' के लिए, 'राज्य' के लिए, 'सुख' के लिए, 'भोग' के लिए, धार्तराष्ट्रों को मारने की इच्छा से होनेवाला स्वजन-संहार लगने लगा। वैसा करने में उन्हें अब सहसा ही भयंकर पाप व दोष दिखने लगा – मित्रद्रोह का पाप तथा कुलक्षय का दोष ! और ये पाप और दोष भी ऐसे तैसे नहीं, बल्कि थे – शाश्वत, सनातन कुलधर्म तथा जातिधर्म का नाश होना, पूरे कुल का अधर्म से ग्रस्त होना, कुलस्त्रियों का दूषित होना, वर्णसंकर सन्तानों की उत्पत्ति, पितरों का पिंडदान से वंचित रह जाना आदि अनर्थकारी तथा सीधे नरकद्वार तक ले जानेवाले पापकर्म !

जन्म से ही अति जुझारू क्षत्रिय अर्जुन को अब सहसा यही उत्तम लगने लगा कि 'राज्य-सुख-लोभ' के लिए स्वजन-हत्या का यह पाप करने की अपेक्षा, स्वयं के साथ ही सभी घरवालों – जीवित रिश्तेदारों सहित दिवंगत पितरों को, नरक की ओर खींच ले जानेवाला यह 'दोष' करने की अपेक्षा अपने शस्त्रों को नीचे रखकर छाती पर हाथ बाँधकर वे शान्त बैठ जायँ और धृतराष्ट्र के पुत्र आकर उन्हें खुशी से मार डालें।

और इसलिए, इन समस्त कारणों से अपार शोक-सागर में डूबे हुए अर्जुन, हाथ में लिए हुए धनुष तथा बाण को नीचे रखकर चुपचाप बैठ गये।

- ३ -

अर्जुन दया तथा उससे उत्पन्न शोक से पूर्णत: अभिभूत हो चुके थे, आँखें डबडबा आयी थीं, उनकी मानसिक व्याकुलता – उसकी मनोदशा उसकी दृष्टि से स्पष्ट झलक रही थी।

और यह सब देखकर श्रीकृष्ण भौचक्के रह गए। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि अपने अर्जुन को यह सहसा क्या हो गया ! वे क्षण भर में ही सब कुछ समझ गए और इसीलिए वे तत्काल बोल उठे – 'अर्जुन, यह तुम क्या कर रहे हो? संकट की इस घड़ी में, असमय ही आई इस हताशा ने, इस अवसाद ने तुम्हें क्यों ग्रस लिया है? इस तरह की नामर्दी तुम्हें शोभा नहीं देती। अन्त:करण के इस तुच्छ घृण्य दुर्बलता को तत्काल झटकते हुए तुम उत्साहपूर्वक उठकर खड़े हो जाओ।''

* * *

अर्जुन के मन में सहसा उठनेवाली इस 'स्वजन'-विषयक दया को भगवान ने अन्त:करण की तुच्छ घृण्य दुर्बलता – **'क्षुद्रं हृदय-दौर्बल्यम्'** – कहा है।

उस दया के कारण निर्मित दारुण शोक-विषाद को 'असमय ही हिम्मत हार जाना – **'विषमे कश्मलम्'** कहा है !!

और युद्ध रूपी 'स्वधर्म' को सहसा ही निन्दनीय, पापमय, दोषमय प्रतीत होने लगकर उसके आचरण से पीछे हटकर अपनी छाती पर हाथ बाँधे नि:शंक मरने के लिए तैयार होने की बहादुरी को नामर्दी, नपुंसकता कहा !!!

- ४ -

बिल्कुल अनपेक्षित डाँट-फटकार ! कहाँ अर्जुन की दया उस दया के कारण अवश्यम्भावी, हत्याओं के कारण अर्जुन को होनेवाला सात्त्विक खेद, उनकी हिंसा-विषयक अरुचि आदि की प्रशंसा करना छोड़कर, इन सब उदात्तताओं के लिए उसे शाबाशी देने की जगह उल्टे यह भर्त्सना !

* * *

परन्तु अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न प्रभु ने अर्जुन की इस मन:स्थिति का अन्त:करण की तुच्छ घृण्य दुर्बलता ठीक समय पर हिम्मत हारनेवाली तथा नामर्दी के रूप में जो निदान किया था, वह सचमुच ही अचूक होने के कारण उस विकृत मन:स्थिति मे भी अर्जुन को यह निदान चुभी नहीं, बल्कि उन्हें मन-ही-मन उसकी यथार्थता का बोध हुआ। जैसे भगवान अर्जुन को पूरी तौर से पहचानते थे, वैसे अर्जुन भी भगवान को भलीभाँति जानते थे ! अर्जुन का दृढ़ विश्वास था कि भगवान कुछ भी व्यर्थ ही या निराधार नहीं बोलेंगे।

और इसलिए, मन-ही-मन सच्चे लगनेवाले, पर चुभनेवाले उस असुविधाजनक निदान को, विकृत मन:स्थिति के, कलुषित भावनाओं के आवेग को अस्वीकृत करने के इरादे से, खण्डन करने की इच्छा से – भगवान के अचूक निदान के कारण जाग्रत होनेवाले स्वयं के विवेक को बलपूर्वक दबाने का प्रयत्न करते हुए अर्जुन ने कहा – ''हे मधुसूदन ! (ऐन मौके पर हिम्मत हारने का, या निराश होने का, या नामर्दी का प्रश्न ही नहीं उठता, मन की दुर्बलता का भी प्रश्न ही नहीं है। पर) तुम्हीं बताओ कि वस्तुत: जिनकी मुझे फूल आदि से पूजा करनी चाहिए, उन भीष्म व द्रोण पर मैं भला कैसे बाण चलाऊँ? क्या यह तुम्हें उचित लगता है? मुझे तो यह जरा भी उचित नहीं लगता। मोक्षप्राप्ति के लिए स्वधर्म का आचरण करने के उद्देश्य से युद्ध करके इन गुरुजनों, इन महात्माओं को मारने की अपेक्षा भिक्षाचर्या का आश्रय लेकर – मोक्षप्राप्ति के लिए सर्वसंग-परित्याग करके संन्यास लेना मुझे अधिक उचित लग रहा है, उत्तम लग रहा है। हे कृष्ण ! इन गुरुजनों को मारकर हमें क्या मिलेगा? धर्म व अर्थ को तिलांजलि देकर, केवल खून से सने अर्थ तथा काम के भोग ही न !

* * *

कृष्ण चकित होकर देख रहे थे, सुन रहे थे। इस सम्पूर्ण उच्च कोटि के वक्तव्य पर वे एक शब्द भी बोले नहीं।

अत: अर्जुन और भी अधिक निराश होकर कहते हैं – ''हे कृष्ण, मैंने अवश्य कहा कि इस युद्ध की अपेक्षा सर्वसंग-

परित्याग श्रेयस्कर है, पर इन दोनों में से सचमुच ही कौन-सा श्रेयस्कर है, यह मेरी समझ में नहीं आता। इसके अलावा, एक बात और – एकदम कठिन परिस्थिति – जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते और वह यह है कि मान लो हम लड़ते है, फिर भी हम जीतेंगे ही इसकी भी क्या गारंटी?"

अर्जुन को इस बात की अच्छी धारणा थी कि रणभूमि में भीष्म से युद्ध करने का अर्थ क्या है, द्रोण से दो दो हाथ करने का तात्पर्य क्या है और कर्ण से लोहा लेना क्या चीज है। अब इस अवरोही मनस्थिति में अनजाने ही अर्जुन के मुँह से वह कल्पना, वह भय भी बाहर आ गया!

फिर भी कृष्ण चुप ही रहे! चूँ तक नहीं की।

अब तो अर्जुन को लगने लगा – बल्कि विश्वास होने लगा कि उन्हीं से कहीं कुछ गल्ती हो रही है। अन्यथा, कृष्ण तो कभी ऐसा नहीं बोलते, ऐसा व्यवहार नहीं करते।

वैसे श्रीकृष्ण की बातें उन्हें भीतर-ही-भीतर जँच गई थीं। स्वजनों के प्रति दया आदि भावनाओं को निरंकुश छोड़कर उन्होंने अपने उस विश्वास का, अपने विवेक का गला घोंटने का प्रयत्न किया था। परन्तु श्रीकृष्ण की वाणी तथा आचरण के कारण वह विफल हुआ और अर्जुन प्रभु द्वारा किए हुए अपनी दूषित मन:स्थिति के निदान को स्वीकार करते हुए अति दीनतापूर्वक बोले – "प्रभो, इस विचार से अब मैं व्याकुल हो गया हूँ, एकदम दीन-हीन हो गया हूँ कि दोनों ओर से मेरे ये स्वजन अब मरने वाले हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह गलत है, यह दोष है। परन्तु क्या करूँ, यह दोष मुझमें उत्पन्न हुआ है और इसके कारण मेरा वास्तविक स्वभाव ढँक-सा गया है। धर्म क्या और अधर्म क्या है, वर्तमान परिस्थिति में मेरे लिए क्या करना उचित है, इस विषय में मैं पूर्णत: उलझन में पड़ गया हूँ। परन्तु प्रभो, मेरी प्रबल इच्छा है कि मेरे द्वारा कुछ अनुचित न हो, मैं जीवन की सच्ची कृतकृत्यता से – सच्चे कल्याण से वंचित न रह जाऊँ। आप ही बताइए कि मेरे लिए क्या करना उचित होगा। मैं आपका शिष्य हूँ, आपका शरणागत हूँ, मुझे मार्ग दिखाइए। परन्तु प्रभो, मुझे यह जो भयंकर शोक हो रहा है, इसका वर्णन मैं कैसे करूँ? मैं इसके कारण सचमुच ही जल रहा हूँ। मुझे लगता है कि सम्पूर्ण पृथ्वी ही नहीं, स्वर्ग का भी एकक्षत्र साम्राज्य मुझे मिले, तो भी मेरे इस शोक का अन्त नहीं होगा। नहीं प्रभो, मुझे लड़ने की इच्छा नहीं है – मैं नहीं लड़ूँगा।

– ५ –

दोनों पक्षों में केवल स्वजन ही भरे हुए हैं, इस बात का केवल ऐन मौके पर भीषण प्रखरता से भान होने के कारण अर्जुन के हृदय में जो सहसा ही 'पराकृपा' या 'अत्यधिक दया' उमड़ी थी, उसे अमोघ अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न भगवान ने **'क्षुद्रं हृदय-दौर्बल्यम्'** या 'अन्त:करण का तुच्छ घृण्य दुर्बलता' कहा और ऐसी दया का विषय बने हुए स्वजनों का अब इस युद्ध में निश्चित रूप से विनाश होगा, वे मृत्यु को प्राप्त होंगे – इस कल्पना मात्र से उन्हें जो अपार शोक हुआ था उसे प्रभु ने **'विषमे कश्मलम्'** अर्थात् असमय का अवसाद बताया।

सचमुच ही, भलीभाँति स्थिर, शान्त होकर चिन्तन करने से, मानवीय 'मन' पर अच्छी तरह ध्यान देकर विचार करने से हम समझ सकते हैं कि भगवान का यह निदान कितना गम्भीर, कितना मूलस्पर्शी, कितना सटीक, कितना यथार्थ और कितना अचूक था।

पुरखों की थाती

अभ्यास-सदृशं नैव लोकेऽस्ति हितसाधनम्।
अत: स एव कर्तव्य सर्वदा साधुवर्त्मना ।।

– इस जगत् में 'अभ्यास' के समान हितकर दूसरा कुछ भी नही है, अत: भलाई के पथ पर चलनेवालों को सर्वदा 'अभ्यास' में लगे रहना चाहिए।

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगान्महान्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ।।

– जो कुछ हितकर है, उसे आज ही कर डालना उचित है, क्योंकि महान् काल सभी का अतिक्रमण करता हुआ चलता है। कौन जाने किसकी आज ही मृत्यु आ जाय।

अपेक्षन्ते न च स्नेहं न पात्रं न दशान्तरम्।
सदा लोकहिता-सक्ता रत्नदीपा इवोत्तमा: ।।

– उत्तम पुरुष रत्नदीप के समान, न तो तेल (प्रेम) की अपेक्षा रखते हैं, न पात्र (योग्यता) की परवाह करते हैं, और न सूत्रवर्तिका या उच्च अवस्था की; वे तो सदा प्रकाश या लोकहित करने में ही निरत रहते हैं।

अन्नदानात्परं दानं विद्यादानमत: परम्।
अन्नेन क्षणिका तृप्ति: यावज्जीवं च विद्यया ।।

– अन्नदान सर्वोत्तम दान है, परन्तु उससे भी उत्तम है विद्यादान, क्योंकि अन्न से तो तात्कालिक तृप्ति मिलती है, जबकि विद्या जीवन भर सुख प्रदान करती रहती है।

अहो नु चित्रा मायेयं तथा विश्वविमोहिनी।
असत्यैवापि सद्रूपा मरुभूमिषु वारिवत् ।।

– अहो, यह माया अत्यन्त विचित्र और सम्पूर्ण जगत् को मोहनेवाली है; यह मरुभूमि में जल के समान असत्य होकर भी सत्य प्रतीत होती है।

अर्जुन साधक थे। स्वधर्म-रूपी मोक्षप्राप्ति के अमोघ साधन का आचरण करने के उद्देश्य से वे कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर युद्ध करने आये थे। तो क्या कौरव सेना को प्रत्यक्ष देखने के पहले तक उन्हें ज्ञात न था कि दोनों ओर अपने स्वजन हैं और युद्ध से अर्थात् उसमें लड़नेवालों का विनाश अटल होता है?

और इसके बावजूद, अपनी आँखों से उस सेना को देखते ही उसे सर्वत्र 'स्वजन-ही-स्वजन' दिखने लगे और यह सोचकर उन्हें शोक होने लगा कि ये सभी स्वजन अब मरेंगे।

इसी को 'आसक्ति' तथा उससे उत्पन्न 'शोक' कहते हैं। यह शोक जब अत्यन्त गम्भीर हो जाता है तो उसे 'मोह' कहते हैं। अर्जुन को सहसा इसी मोह ने ग्रस लिया था। भगवान के ज्ञान से परिपूर्ण उपदेश सुनकर इस दूषित मनःस्थिति का शमन होने के पश्चात् अर्जुन ने बारम्बार यही कहा था – **यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम** – "आपने जो कुछ बताया, उससे मेरा मोह दूर हो गया है।" (गीता, ११/१) **नष्टो मोहः** – "मेरा मोह नष्ट हो गया है।" (गीता, १८/७३) भगवान ने इस आसक्ति को ही 'क्षुद्र-हृदय-दौर्बल्य' या अन्तःकरण की तुच्छ घृण्य दुर्बलता बताया और उससे उत्पन्न शोक-मोह को 'विषमे कश्मल' या 'असमय का अवसाद' कहा।

आसक्ति के कारण 'शोक' हुआ, शोक से 'मोह' के सोपान पर चढ़ा और इस मोह के कारण अर्जुन का विवेक पूर्णतः आच्छन्न हो गया। मोह का स्वरूप तथा कार्य ऐसा ही होता है। मोह विवेक को पूर्णतः ढँक देता है। इस प्रकार विवेक का लोप हो जाने के कारण अर्जुन को सीधी-सी बातें उलटी तथा उलटी बातें सीधी लगने लगीं। इसी हृदय को विदीर्ण करनेवाली विपरीत दृष्टि को विवेक-लोप या अविवेक कहते हैं। देखिए न, आसक्ति-शोक-मोह के कारण उत्पन्न होनेवाले इस विवेक-लोप के फलस्वरूप, इस अविवेक का उद्भव होने से, इस मर्मभेदी दृष्टि के चलते, अर्जुन को मोक्ष-प्राप्ति के लिए आचरणीय वह पवित्र पावन 'स्वधर्म' अब सहसा ही 'विजय-राज्य-सुख-भोग' के लिए किया जानेवाला स्वजन-संहार प्रतीत होने लगा। 'जाति-कुल-धर्मनाश, कुलस्त्री-पतन, वर्णसंकर-पितरपिंडोदक-लोप' आदि क्रम से नरक में ले जानेवाले 'पातक' तथा 'दोष' लगने लगे। और जिस सर्व-संग-त्याग-रूपी संन्यास धर्म का विचार तक इस क्षण के पूर्व तक कभी एक बार भी उनके मन को स्पर्श नहीं कर सका था, वही 'परधर्म' अब सहसा उन्हें अति आकर्षक, अत्यन्त ग्राह्य लगने लगा। इसी प्रकार अर्जुन ने भीष्म-द्रोण की आज तक शायद ही कभी पुष्पों से पूजा की होगी, पर आज सहसा ही उन्हें गन्ध-फूल चढ़ाने की सबुद्धि उत्पन्न हुई। और भगवान शंकर से भी बेझिझक युद्ध करनेवाले अर्जुन आज भीष्म-द्रोण-कर्ण-जयद्रथ आदि के भय के कारण मन-ही-मन घबरा गये – डर गये। और परिणाम यह हुआ कि स्वतःप्रेरित हो युद्ध के लिए आये हुए अर्जुन अचानक ही 'मैं नहीं लड़ूँगा' – कहते हुए धनुष-बाण नीचे रखकर चुपचाप बैठ गये।

- ६ -

ऐसा ही होता है!

ऐसा कदापि नहीं है कि यह केवल अर्जुन के जीवन में किसी विशेष परिस्थिति में आई कोई विशिष्ट, व्यक्तिगत घटना रही हो। ऐसा सभी के जीवन में होता है। किसी भी साधक के जीवन में कभी भी ऐसी घटना होने की सम्भावना, भय बना रहता है। अतः अर्जुन के अन्तःकरण में एक विशिष्ट परिस्थिति में उभरी यह आसक्ति केवल अर्जुन की ही खास, व्यक्तिगत विशेषता नहीं है। आसक्ति सभी प्राणियों में सामान्य रूप से होती है – निर्विवाद रूप से सभी के अन्तःकरण में बसती है। (आसक्ति तथा उससे उत्पन्न शोक-मोह-अविवेक आदि मानव-स्वभाव-सिद्ध सार्वजनीन भयंकर शत्रुओं का समूल नाश कर, श्रेय प्रदान करके जीवन को सचमुच ही कैसे सफल बनायें – इस विषय मे यह संवाद अमोघ मार्गदर्शन करता है – और यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है कि क्यो कल्याण के इच्छुक मानवों को यह अजर-अमर कृष्णार्जुन संवाद का स्थान-काल-निरपेक्ष रूप में सर्वत्र, सदैव आकृष्ट करता रहता है।)

* * *

और इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को, प्रत्येक मुमुक्षु को, प्रत्येक कल्याण-कामी साधक को इस देहगत आसक्ति के विषय मे सदैव सावधान रहना चाहिए।

* * *

अन्यथा साधक स्वमार्ग के अनुसार साधना करता है, पर साथ ही भीतर आसक्ति भी है – तो वह न जाने कब और कैसे प्रकट होगी, इसका कोई भरोसा नहीं।

देखिए न, वैसा कोई भी कारण न होते हुए भी, वैसा कुछ भी आगे-पीछे न होते हुए भी, क्या किसी ने कल्पना भी की थी कि ठीक शस्त्र चलाने के समय अर्जुन के मन में स्थित स्वभावगत आसक्ति इस तरह उभर आएगी? सारांश यह कि यह आसक्ति कभी भी प्रगट हो सकती है।

और यह किस तरह, किस रूप में प्रगट होगी, इसका भी कोई ठिकाना नहीं। आसक्ति यदि 'आसक्ति' के रूप में ही प्रगट हो, तब तो एक दृष्टि से यह उत्तम ही है, क्योंकि साधक यह जानता है कि आसक्ति धर्म-जीवन की दृष्टि से अनुचित है, उसका त्याग करना होगा और वह उस दिशा में प्रयत्न भी कर सकता है। परन्तु यह आसक्ति इस तरह स्वयं के रूप में न आकर, कोई अच्छा-सा, सुन्दर-सा रूप लेकर आती है। अर्जुन के मन में भी वह 'परा कृपा' या 'अपार दया' के रूप

में प्रकट हुई। चोर यदि साधु के वेश में, शत्रु यदि मित्र के वेश में आए, तो मनुष्य झूठे को सच्चा समझने की गल्ती करते हुए सहज ही धोखा खा जाता है। और यह बहुत ही अनर्थकारक है, यह स्पष्ट है। क्योंकि फिर उसमें से उस 'साधु' को, उस 'मित्र' को – भला रूप धारण कर आई उस आसक्ति को दूर करने का प्रयत्न करना भी सम्भव नहीं होता।

* * *

इस प्रकार यह मनुष्य-स्वभावगत आसक्ति कभी भी और कैसे भी प्रगट हो जाती है। साधक यदि इसके इस गुण-धर्म को जानकर उसके विषय में सावधान नही रहा, उसे तत्काल दूर करके अपने साधना-मार्ग पर अडिग नहीं रहा, तो यह आसक्ति केवल 'आसक्ति' की ही अवस्था में न रहकर और भी अधिक स्थूल रूप धारण करने लगती है – नाना प्रकार से क्रियाशील होने लगती है – और फिर प्रतिक्रियाओं की एक शृंखला ही जन्म लेती है।

- ७ -

ध्येयप्राप्ति के लिए स्वधर्म अर्थात् अपने कर्तव्य का अनुष्ठान करने के लिए आए हुए अर्जुन के हृदय में स्वजनों को देखकर ठीक उसी समय, अत्यन्त असमय में, प्रगट हुई आसक्ति के कारण उन्हें अत्यधिक शोक हुआ, उन स्वजनों के अवश्यम्भावी नाश की कल्पना मात्र से ही उनकी इस आसक्ति पर आघात हुआ। इस प्रकार जब इस आसक्ति पर आघात हुआ, उसका विरोध हुआ, उसमें बाधा आयी, तो उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप शोक भी हुआ। परन्तु यदि आसक्ति पर इस तरह आघात न हो, उसमें रुकावट या विरोध न हो और यदि उसकी पूर्ति होती है, सन्तुष्टि होती है, तो उसकी प्रतिक्रिया 'हर्ष' में होती है।

* * *

आसक्ति के प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न शोक या हर्ष को रुद्ध न करके, उसे घनीभूत होने दिया जाय, तो वह मोह में परिणत होती है। इस मोह के कारण विवेक का लोप होकर अविवेक का उदय होता है। और अविवेक से – विपरीत दृष्टि से – ग्रसित व्यक्ति 'प्रमाद' के सिवा, भूल के सिवा और कर भी क्या सकता है? भ्रम की स्थिति में साधक कभी कभी ध्येय-प्राप्ति के अमोघ, अपरिहार्य साधन-रूप अपने 'स्वधर्म' को त्यागकर, जो उसका धर्म नहीं है, जो उसका स्वभावगत कर्म नहीं है, उसका आश्रय लेता है। जो साधक गृहस्थ-जीवन में सही धर्ममार्ग को अपनाने में सक्षम होता है, वह संन्यास के मार्ग पर चल पड़ता है; और जो साधक सचमुच ही संन्यास ग्रहण कर अध्यात्म-लाभ का अधिकारी होता है, वह गृहस्थ जीवन के बन्धन को स्वीकार कर बैठता है। दोनों को ही अन्त में पश्चात्ताप के आँसू बहाने पड़ते हैं, एक का भी धर्मजीवन सफल नही होता।

और प्रभुकृपा से, गुरु-प्रभाव से और सौभाग्य से साधक संस्कारों या प्रारब्ध के कारण इस प्रकार स्वमार्ग से च्युत न होते हुए यदि स्वकर्म-आचरण करता भी रहा, पर इस आसक्ति के विषय में सावधान रहकर यदि उसे समय पर ही उसे दूर करने का यत्न नहीं किया – अर्थात् आसक्ति के वशीभूत होकर, उसका शिकार बनकर वह स्वकर्म का आचरण करता रहा, तो भी उसका धर्म-जीवन फलित नहीं होगा, क्योंकि आसक्ति व्यक्ति को स्वार्थपर बनाती है। आसक्ति के कारण व्यक्ति सदैव अपने किसी स्वार्थ की पूति करने के लिए ही प्रयत्नशील रहता है। (यह स्वार्थी हलचल उसके काया-वाचा-मन के सम्पूर्ण कार्यो पर वर्चस्व स्थापित करती है – काया-वाचा-मन से वह अपने उस आसक्तिजनित स्वार्थ को पूरा करने के लिए परिश्रम करता है।) वह हेतु पूरा हुआ तो उसका अहंकार सन्तुष्ट होता है, पूरा नही हुआ तो अहंकार पीड़ित होता है। इस आसक्तिजनिन स्वार्थपरता तथा अहंकारनिष्ठा के कारण ऐसे साधकों के द्वारा स्वधर्म का समुचित आचरण भला कैसे सम्भव है? और फल की आशा व अहंकार को छोड़कर निष्काम अर्थात् निस्वार्थ भाव से तथा ईश्वरार्पण बोध से अर्थात् निरहंकार रूप में स्वकर्मों का उचित सम्पादन किए बिना – स्वकर्म कुसुम द्वारा उन सर्वात्मक ईश्वर की पूजा किए बिना – आध्यात्मिक जीवन सफलता के मार्ग पर कैसे अग्रसर होगा?

* * *

इस प्रकार आसक्ति तथा उसकी प्रतिक्रिया के कारण सम्भव है कि साधक स्वधर्म को छोड़कर परधर्म स्वीकार कर ले; और वैसा न करके यदि वह केवल स्वधर्म में ही रहे तो भी उससे आसक्ति के कारण उस स्वधर्म या स्वकर्म का आचरण उचित तरीके से नहीं हो सकता और ऐसा भी सम्भव है कि आसक्ति तथा तज्जनित प्रतिक्रियाओं के कारण 'स्व' या 'पर' किसी भी कर्म की ओर न मुड़कर साधक मूल भगवत्प्राप्ति के ध्येय को भूलकर पूर्णत: पार्थिव भोगो मे ही लिप्त हो जाय।

* * *

इनमें से कुछ भी घटित हुआ तो साधक सत्यस्वरूप ईश्वर को गँवा बैठता है और भले-बुरे कर्मो तथा सुख-दु:खात्मक कर्मफलों के चक्र में भटकते हुए कृतकृत्यता से, कृतार्थता मे, मानवजीवन की सार्थकता से वंचित रह जाता है – धर्माकांक्षा विफल होने का घोर दुर्दैव ही उसका भाग्य बन जाता है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

अध्यात्म विद्या की गंगोत्री : आरण्यक और उपनिषद्

डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

(विश्व के प्राचीनतम धर्मग्रन्थ 'वेद' के चार विभाग माने जाते है – संहिता या मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। इनमें से प्रथम तीन को तो वेद का 'कर्मकाण्ड' कहा जाता है और अन्तिम अर्थात् उपनिषद् को ज्ञानकाण्ड। वैदिक ज्ञान का निचोड़ – सर्वोत्कृष्ट दर्शन इन्ही मे प्राप्त होता है। विद्वान् लेखक ने 'वेद' के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश के इतिहास तथा तात्पर्य पर सुन्दर प्रकाश डाला है। – सं.)

वैदिक वाङ्मय का सम्बन्ध जिस वैदिक धर्म से है, उसके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड नामक दो विभाग हैं। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत नानाविध याग-याज्ञो का विधान किया है, जिसका सविस्तार विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। इस ब्राह्मण वाङ्मय के गद्य-पद्यात्मक परिशिष्ट विभाग को 'आरण्यक' संज्ञा दी गई है। इस विभाग का अध्ययन अरण्य में रहकर करने की परिपाटी थी। इसीलिए इस वाङ्मय को 'आरण्यक' संज्ञा प्राप्त हुई। ऐसी भी उपपत्ति बताई जाती है –

अरण्य एव पाठ्यत्वात् आरण्यकमितीर्यते।

– अरण्य मे ही पठनीय होने से इसे 'आरण्यक' कहते हैं।

याग-यज्ञों की गूढ़ता और वर्णाश्रमों के आचार-व्यवहार – ये ही आरण्यकों के प्रतिपाद्य विषय हैं। आरण्यकों में कुछ उपनिषदो का भी अन्तर्भाव होता है, अत: आरण्यक तथा उपनिषदों की निश्चित सीमा-रेखा बता पाना असम्भव-सा है।

जिस प्रकार 'मंत्र' और 'ब्राह्मण' – इन दोनों को 'वेद' कहते हैं, उसी प्रकार 'आरण्यक' और 'उपनिषद्' को 'वेदान्त' कहते हैं, क्योकि यह वाङ्मय वेद का अन्तिम भाग है। जिस प्रकार विशिष्ट ब्राह्मण ग्रन्थो का विशिष्ट वैदिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध है, उसी प्रकार आरण्यकों एवं उपनिषदों का भी वैदिक सम्प्रदायों से सम्बन्ध होता है। (देखिए – परिशिष्ट)

ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् आपस मे जुड़े हैं। जैसे –

(१) ऐतरेय आरण्यक और ऐतरेय उपनिषद्, ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बन्धित हैं।

(२) कौषीतकी आरण्यक व कौषीतकी उपनिषद्, ऋग्वेद के शांखायन (अर्थात् कौषीतकी) ब्राह्मण से सम्बन्धित हैं।

(३) तैत्तिरीय आरण्यक और तैत्तिरीय उपनिषद्, कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण से सम्बन्धित हैं। महानारायण उपनिषद् भी तैत्तिरीय आरण्यक से सम्बन्धित है।

(४) शुक्ल यजुर्वेद के 'शतपथ-ब्राह्मण' के १४वें मण्डल का प्रारम्भिक एक तिहाई भाग 'आरण्यक' है। और बाकी दो तिहाई भाग को 'बृहदारण्यक उपनिषद्' कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् सभी उपनिषदो में बड़ा और अनेक दृष्टियों से परिपूर्ण है। शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिन और काण्व – इन दोनो शाखाओं के आरण्यक, माध्यन्दिन आरण्यक और काण्व-बृहदारण्यक नाम से प्रसिद्ध हैं। इन दोनों आरण्यकों में विशेष अन्तर नहीं है।

(५) छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण से सम्बद्ध है। इसका प्रारम्भिक भाग आरण्यक के समान है।

(६) सामवेद की जैमिनीय शाखा की जैमिनीय-ब्राह्मणोपनिषद्, ब्राह्मण की 'तलवकार आरण्यक' नाम से प्रसिद्ध है। इस ब्राह्मण में आरण्यक और उपनिषद् का अन्तर्भाव हुआ है।

ऐतरेय आरण्यक

सम्पूर्ण आरण्यक वाङ्मय में ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक को विशेष महत्त्व दिया जाता है। सन् १८७६ में सत्यव्रत सामाश्रमी जी ने पहली बार इसका सायण-भाष्य सहित मुद्रण किया। सन् १९०९ में कीथ ने इसका अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशन किया। इस आरण्यक पर षड्गुरु शिष्य की 'मोक्षप्रदा' नामक टीका का उल्लेख मिलता है, पर यह टीका उपलब्ध नही है। इसमें कुल १८ अध्यायों का पाँच भागों में वर्गीकरण किया है और हर अध्याय का विभाजन कई खण्डो में हुआ है। प्रथम आरण्यक में गवामयन, महाव्रत, प्रात:-संवनन, मध्यन्दिन संवनन और सायं संवनन का वर्णन है।

द्वितीय आरण्यक के ४, ५, ६ अध्यायों को ही 'ऐतरेय उपनिषद्' कहते है।

तृतीय आरण्यक में निर्भुज और प्रतृण्ण संहिता (सन्धि) के भेद तथा स्वर, स्पर्श, उष्म आदि वर्णो का विवेचन है।

चतुर्थ आरण्यक में ऋचाओं का संकलन और पंचम मे महाव्रत का सवन तथा निष्कैवल्य शस्त्र (अर्थात् वैदिक स्तोत्र) का विवेचन किया गया है।

ऐसी मान्यता है कि इन पाँच आरण्यकों में से पहले तीन का प्रचार ऐतरेय महीदास ने, चौथे का अश्वलायन ने और पाँचवे का शौनकाचार्य ने किया है। ऐतरेय आरण्यक के अनुशीलन से आरण्यकों में प्रतिपादित विषयों की स्थूल रूपरेखा समझ में आ जाती है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद का शांखायन (कौषीतकी), कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय और शुक्ल यजुर्वेद का बृहदारण्यक, वानप्रस्थाश्रमी वैदिको के लिए महत्त्वपूर्ण है। यज्ञादि महाव्रतो का और होत्रो का विवरण ही सभी आरण्यको का प्रमुख विषय है।

उपनिषद् वाङ्मय

वेदान्त में 'दशोपनिषद्' शब्द का प्रयोग सर्वत्र रूढ़ है –

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुंड-माण्डूक्य-तित्तिर:।
छान्दोग्यम् ऐतरेयं च बृहदारण्यकं तथा ।।

इस प्रसिद्ध श्लोक में उन दशोपनिषदों का परिगणन हुआ है। श्री शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त विषयक भाष्यों में इन दस उपनिषदों के अतिरिक्त श्वेताश्वतर, महानारायण, मैत्रायणी, कौषीतकी और नृसिंहतापिनी – इन पाँच अन्य उपनिषदों से भी उद्धरण दिये हैं, अतः ब्रह्मज्ञान में दशोपनिषदों के समान ही इनकी भी प्रामाणिकता मान्य है। श्रीमद्-भगवद्-गीता को भी उपनिषद् की मान्यता प्राप्त है। इस प्रकार प्रमाणभूत उपनिषदो की संख्या केवल दस ही नहीं है।

मुक्तिकोपनिषद् में १०८ उपनिषदों के नाम देते हुए चार वेदो के अनुसार उनका वर्गीकरण भी किया गया है। यथा –

ऋग्वेद – १० उपनिषद्

कृष्ण यजुर्वेद – ३२ उपनिषद्

शुक्ल यजुर्वेद – १९ उपनिषद्

सामवेद – १६ उपनिषद्

अथर्ववेद – ३१ उपनिषद्

वेदों की प्रत्येक शाखा का एक एक उपनिषद् माना जाता है। मुक्तिकोपनिषद् में लिखा है कि साधक को आत्मज्ञान के लिए ईशोपनिषद् से प्रारम्भ करके केन, कठ, प्रश्न आदि के क्रम से उपनिषदों का स्वाध्याय करना चाहिए। १० उपनिषदों से समाधान प्राप्त नही हुआ, तो २७, ३२, ३८ अथवा अन्ततः १०८ उपनिषदों का अध्ययन करना चाहिए। इसका अर्थ ब्रह्मजिज्ञासा पूर्ण होने तक साधक को उपनिषदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते रहना चाहिए।

मुक्तिकोपनिषद् के वर्गीकरण में उपनिषदों में वैदिक और अवैदिक जैसा कोई भेद नहीं माना गया है। अवैदिक माने गए उपनिषदों का अन्तर्भाव सामान्यतः अथर्ववेदीय उपनिषदों में होता है। उनका सम्बन्ध पुराणो व तंत्रो से होता है। इनमें दार्शनिकता की अपेक्षा धार्मिकता पर अधिक बल होता है।

जर्मन मनीषी डॉयसन द्वारा उत्तरकालीन अथर्ववेदीय उपनिषदों का विषयानुसार किया हुआ वर्गीकरण इस प्रकार है –

(१) वेदान्त-परक – प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, गर्भ, गारुड आदि।

(२) योग-परक – अमृतबिन्दु, छुरिका, नादबिन्दु आदि।

(३) संन्यास-धर्म-परक – आश्रम, संन्यास, सर्वसार, ब्रह्म, आरुणेय आदि।

(४) विष्णु-स्तुति-परक – कैवल्य, नीलरुद्र, अथर्वशिरस् आदि।

वैदिक उपनिषदों में से ईश, केन, कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर और महानारायण की रचना छन्दोबद्ध तथा साहित्यिक गुणों से युक्त है और इनमें आध्यात्मिक विचारों की धारणा विशेष रूप से परिलक्षित होती है।

अथर्ववेदीय उपनिषद्-वाङ्मय उत्तरकालीन और बहुसंख्यक है। इनमे गर्भ, पिण्ड, आत्मबोध आदि उपनिषद् विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

उपनिषद् वाङ्मय के अन्तर्गत अधिकतम २५० तक उपनिषदों का अन्तर्भाव होता है, जिनमें श्री शंकराचार्य के उत्कृष्ट भाष्य-ग्रन्थों के कारण ईश, केन, कठ आदि दस और ग्यारहवाँ श्वेताश्वतर विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त अमृतबिन्दु, ध्यानबिन्दु, कैवल्य, गर्भ, गोपालतापनी, रामपूर्वतापनी, नृसिहोत्तरतापनी, छुरिका, जाबाल, संन्यास, नारायणीय, महानारायण, मैत्री, योगतत्त्व, सर्व, वज्रसूची आदि ३२ उपनिषदों को भी विशेष महत्त्व दिया जाता है।

वेदों में जिस 'विद्या' का प्रतिपादन हुआ है, जिसके (१) परा व (२) अपरा नामक दो विभाग किये गये हैं। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार चार वेदों व वेदांग को अपरा विद्या और जिसके द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार होता है, उसे परा विद्या कहते है –

तत्र अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदो सामवेदः अथर्ववेदः
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति,
अथ परा यया तदक्षरम् अधिगम्यते ।। (१/५)

इसी परा विद्या को ब्रह्मविद्या अथवा उपनिषद् भी कहते हैं।

भाष्यकारों ने व्याकरण के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द के ये अर्थ बताये गये हैं – उप-नि-सद् – **उप** – उपगम्य, उपलभ्य, **नि** – नितरां, निःशेषेण, **सद्** (मूल धातु षद्लृ) – (१) विशरण (नाश करना), (२) गति (गमन करना) तथा (३) अवसादन (शिथिल करना)। तदनुसार उपनिषद् शब्द के (उपसर्गों के अर्थ जोड़कर) पूर्णतः तीन अर्थ व्यक्त होते है –

(१) गुरु के पास जाकर, जिसका निश्चय से अनुशीलन करने पर, अविद्या (अर्थात् जन्म-मरण के बीज) का नाश होता है, ऐसी मोक्षदायक विद्या।

(२) गुरु के पास जाकर जिसकी प्राप्ति, मुमुक्षु का निश्चित ही ब्रह्मपद तक गमन कराती है, ऐसी मोक्षदायक विद्या।

(३) गुरु के पास जाने पर, जिसकी प्राप्ति होने से जन्म-मरण का उपद्रव शिथिल होता है, ऐसी स्वर्गदायिनी अग्निविद्या।

उपनिषदों का तात्पर्य

वेद-मंत्रों का आध्यात्मिक अर्थ अत्यन्त गूढ़ होने के कारण उनका विस्तार करने हेतु उपनिषदों का आविर्भाव हुआ। तात्पर्य यह कि अध्यात्म विद्या के विषय में वेदो का जो आशय है, वही उपनिषदों का भी आशय है। तथापि इन उपनिषदों के प्रमुख सिद्धान्त के विषय में मध्ययुगीन श्रेष्ठ आचार्यों के बीच तीव्र मतभेद प्रकट हुए। विभिन्न आचार्यों ने उपनिषदों के रहस्यभूत सिद्धान्त की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। यथा —

(१) श्री शंकराचार्य — अद्वैतवाद
(२) श्री रामानुजाचार्य — विशिष्टाद्वैतवाद
(३) श्री वल्लभाचार्य — विशुद्धाद्वैतवाद
(४) श्री निम्बार्काचार्य — द्वैताद्वैतवाद
(५) श्री मध्वाचार्य — द्वैतवाद

यह सोचकर बड़ा ही आश्चर्य होता है कि आचार्यों ने किस प्रकार उपनिषदों के आधार पर परस्पर विरोधी सिद्धान्त प्रकट किये और सामान्य स्थूल बुद्धि के जिज्ञासु का सन्देह बना रह जाता है। विभिन्न मतवादों के लोग अपने अपने आचार्य का सिद्धान्त ही सही मानते हैं।

उपनिषदों का रहस्य प्रतिपादन करने हेतु भगवान बादरायण (वेदव्यास) ने ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता की रचना की। परन्तु उनकी व्याख्या पर भी आचार्यों के आपसी मतभेद बने हुए हैं। आचार्यों के इस प्रखर मतभेद के कारण उपनिषदों का सिद्धान्त अब बुद्धिवाद का नही, अपितु श्रद्धा का विषय बन गया है।

द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी पक्षों के मतवादों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

(१) द्वैतवाद – उपनिषद् वेदमूलक है। वेदों की **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया** (ऋग्वेद १.१६४.१६) – आदि ऋचाओं में स्पष्ट रूप से जीवात्मा और परमात्मा का द्वैत प्रतिपादन किया है। अर्थात् उपनिषदों में भी उसी द्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन होना चाहिए।

(२) अद्वैतवाद – द्वैतवाद के विपरीत अद्वैतवादी कहते हैं – **एतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो** – (छान्दोग्य)। **य एवं वेद अहं ब्रह्माऽस्मीति स इदं सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्च न भूत्वा ईशते। आत्मा ह्येषां भवति** – (बृहदारण्यक)। **ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्य उपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वम् ओंकार एव। यच्च अन्यत् त्रिकालातीतं तदपि ओंकार एव** – (माण्डूक्य)। आदि वेद-वचनों मे जीवात्मा, परमात्मा और जगत् का अभेदत्व अर्थात् अद्वैत स्पष्ट शब्दो में प्रतिपादन किया गया है। अत: अद्वैतवाद ही उपनिषदों का मुख्य सिद्धान्त है।

(३) त्रैतवाद – ईशावास्यमिदं सर्वम्, उद्वयं तमस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् आदि वैदिक मंत्रो में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन तत्त्वों का स्पष्ट निर्देश होने के कारण 'त्रैतवाद' ही वेद-वेदान्त का प्रतिपाद्य सिद्धान्त है।

(४) ज्ञान-कर्म-वाद – उपनिषदों में **तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति** – श्वेताश्वतर (६.१५), **तरति शोकम् आत्मवित्** – छान्दोग्य (७.१.३) तथा **विद्ययाऽमृतमश्नुते** – ईश. (११) – इस अर्थ के अनेक वचन मिलते है, जिनमें ज्ञानमार्ग को ही मोक्षसाधन कहा है।

(५) कर्ममार्गवाद – कर्ममार्गवादी कहते हैं कि **अपाम सोमम् अमृता अभूम। अक्षयमं वैचातुर्मास्ययाजिन: सुकृतं भवति** – आदि अनेक वचनों में कर्ममार्ग को ही अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति का साधन कहा है।

(६) ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद – अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते ; तपसा किल्बिषं हन्ति विद्यया अमृतम् अश्नुते ; तपो विद्या च विप्रस्य नि:श्रेयसकरं परम् – आदि वचनो का प्रमाण लेते हुए ज्ञान और कर्म के समुच्चय को ही मोक्षसाधन मानते हैं।

उपनिषदों में ज्ञान, कर्म, द्वैत, अद्वैत आदि सिद्धान्तों के समर्थक प्रमाण-वचनों का युक्तिपूर्वक समन्वय बैठाकर भाष्यकार आचार्यों ने अपने अपने सिद्धान्त की स्थापना की है। इस प्रकार उपनिषदों का मूलभूत सिद्धान्त अत्यन्त विवाद्य विषय बना हुआ है। इन विवादों के अनेकविध मार्मिक युक्तिवाद जानने की इच्छा रखनेवालो को भी शंकराचार्य आदि भाष्यकारों के ग्रन्थों की पंक्तियो का अध्ययन करना आवश्यक है।

परमात्मा का साक्षात्कार

भाष्यकारों के शास्त्रार्थ से अलिप्त रहते हुए उपनिषदों के मूलमंत्रों का परिशीलन करने पर एक बात ध्यान में आती है कि सारे ही उपनिषदों में सर्वव्यापी तथा सर्वान्तर्यामी चैतन्यमय परमात्मा का साक्षात्कार हुआ है और जीवात्मा-परमात्मा की एकता या अद्वैतता की अनुभूति के लिए धारणा और ध्यान की विविध साधनाओं का प्रतिपादन किया गया है।

ये साधनाएँ या उपासनाएँ ही ब्रह्म-जिसासुओं के लिए उपनिषदो का विहित आचार धर्म है। वेदो के संहिता-ब्राह्मणात्मक कर्मकाण्ड मे प्रतिपादित आचार-धर्म और आरण्यक-उपनिषदात्मक ज्ञानकाण्ड में प्रतिपादित आचार-धर्म के बीच पर्याप्त भेद है। कर्मकाण्ड में स्वर्गप्रद ऋतु व यज्ञ को महत्त्व मिला है, जबकि ज्ञानकाण्ड मे अपवर्गप्रद (मुक्तिदायी) धारणा तथा ध्यान (अन्तरंग योग) पर सब निर्भर है। कर्मकाण्ड का उद्देश्य ही स्वर्ग-सुख है, जबकि ज्ञानकाण्ड का उद्देश्य मोक्ष-सुख या ब्रह्मानन्द है।

निष्कर्ष – स्त्रीलिंगी 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ है – प्राचीन वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत आनेवाले वे ग्रन्थ, जो मानव का परम कल्याण करनेवाली विद्या का प्रतिपादन करते हे – **उपनिषद् इति विद्या उच्यते। तच्छीलिनां गर्भ-जन्म-जरादि-निशातनात् तदवसानाद् वा ब्रह्मणो वा उपगमयितृत्वात् उपनिषद्। तदर्थत्वाद् ग्रन्थोऽपि उपनिषद्** (तैत्तिरीय भाष्य की प्रस्तावना)।

श्री शंकराचार्य जी ने अपने भाष्यों में यत्र-तत्र उपनिषद् शब्द का ही उपासना (धारणा, ध्यान) के अर्थ में भी प्रयोग किया है, क्योंकि उपनिषदो मे ब्रह्म-प्राप्ति की विविध प्रकार की उपासनाओं का प्रतिपादन हुआ है।

❑ ❑ ❑